❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ४ अंक २

Year 4 Number 2

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur. U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक का १)

प्रकाशक श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर

उत्तर प्रदेश (इंडिया)

विषय सूची—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय—अस्थाम		३
३—अध्यात्म	स्वर्गीय पूज्य महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़	४
४—माता और गुरु	श्री रामदेव जी, अनुवाद श्रीएसचन्द्र मिशन	११
५—भजन	सूरदास	१४
६—अनन्त यात्रा		१५
७—भजन	संचा	२१
८—चाह	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२२
९—हमारा स्वास्थ्य	बाबूराम अग्रवाल	२३
१०—स्तवन	तुलसीदास : श्रीराम चरित मानस से उद्धृत	२५
11. Spiritual Training through Yogic Transmission.	Shri Ram Chandra Jr. President S. R. C. Mission	27
12. God & Guide	Shri N. Thyagarajan	37
13. Goat, Guide & the Path.	Shri Raghavendra Rao	43
14. Nature of Reality & Self	Dialogue taken from Chhandogya Upanishad	48
15. Talks on Shri Babu Ji's Commentary on the Ten Commandments of Sahaj Marga	by Dr. K. C. Varadachari	50

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो।)

वर्ष ४] आषाढ़ शाकाब्द १८८२, सं० २०१७ विक्रमी [अङ्क २

Year 4] June, July 1960 [No. 2

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीय:-

अभ्यास

किसी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला निरन्तर प्रयत्न 'अभ्यास' कहलाता है। भारतीय दर्शन के साधनापक्ष सम्बन्धी साहित्य में भी 'अभ्यास' शब्द इसी पारिभाषिक अर्थ में इस्तेमाल किया गया है। गीता में मन को वश में लाने का उपाय 'अभ्यास' और 'वैराग्य' बतलाया गया है, जो एक ही प्रक्रिया के भावात्मक और निषेधात्मक पक्ष हैं। व्यापक रूप में चरम लक्ष्य की प्राप्ति तक आध्यात्मिक प्रगति के प्रत्येक सोपान पर आरोहण का साधन 'अभ्यास' कहा जा सकता है; मन की स्थिरता अथवा चित्त-वृत्ति-निरोध तो एक प्रारम्भिक सोपान ही है।

'अभ्यास' काम्य लक्ष्य के प्रति किसी भी प्रकार के लगाव के साथ प्रारम्भ होता है। अतः प्रशिक्षण की दृष्टि से अधिकार-परीक्षा आवश्यक हो जाती है। किसी भी विषय के अध्यापक विद्यार्थी में वास्तविक योग्यता और अभिरुचि के अभाव में उस विषय के अध्यापन की कठिनाई से परिचित होंगे। अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या में तो पात्रता का प्रश्न और भी अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है, जिसके सम्यक् ग्रहण की योग्यता का विकास भी विद्यार्थी की सच्ची लगन पर ही निर्भर होता है। यों तो अन्तिम सत्य-विषयक जिज्ञासा मानव मात्र में मौजूद है, और किसी रूप में कभी न कभी चेतना में वह अंगड़ाई लेती ही है; किन्तु उसे प्राप्त करने की सच्ची आकुलता के अभाव में उसकी ओर प्रगति के लिये सफल प्रयास सम्भव नहीं। यही कारण है कि इस विद्या के सच्चे

सद्गुरु को स्वार्थपूर्ण उद्वेगों द्वारा प्रेरित बहुत जोशीले शिष्य एक न एक दिन निराश कर देते हैं।

अतः वास्तविक 'अभ्यास' का आरम्भ लक्ष्य की सुस्पष्टता और उसके प्रति लगाव के साथ होता है। सहज-मार्ग के दस मूल सिद्धांतों में तीसरा सिद्धांत इसी बात पर बल देता है। "अपना लक्ष्य निर्धारित कर लो, जो कि परमात्मा से 'पूर्ण ऐक्य' होना चाहिये। जबतक आदर्श की प्राप्ति न हो जाये, चैन न आये।"

मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई लक्ष्य होता ही है, और अभ्यास का रूप उसी पर आश्रित होता है। भारतीय दर्शन की समस्त साधना पद्धतियों में प्रेरणा की दृष्टि से चार प्रकार के अभ्यासी बताये गये हैं, (i) अर्थार्थी, (ii) आर्त, (iii) जिज्ञासु और (iV) ज्ञानी।

यह साधक अपने लक्ष्य के प्रति क्रमशः (i) लोभ, (ii) भय अथवा विवशता, (iii) जिज्ञासा, और (iV) वास्तविक ज्ञान द्वारा आकर्षित और आसक्त होते हैं। इन्हीं प्रेरणाओं के अनुसार इन चार प्रकार के साधकों के अभ्यास विधि में क्रमशः (i) खुशामद और याचना, (ii) विलाप और आर्त पुकार, (iii) वैज्ञानिक अन्वेषण और छान-बीन, तथा (iV) अनन्य-समर्पण और तदार्थ—प्रेम की प्रधानता रहती है।

उपर्युक्त अभ्यासियों में चौथे प्रकार का अभ्यासी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि इस प्रकार के अभ्यासी की साधना का आधार लक्ष्य की सुस्पष्टता होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप लक्ष्य के प्रति वास्तविक लगाव पैदा हो जाता है, जो कभी विकम्पित और स्खलित नहीं होता। लक्ष्य की प्राप्ति में उसके प्रति इसी प्रकार का लगाव सबसे अधिक सहायक होता है। लक्ष्य की ओर उन्मुख करने में स्वार्थ, आर्ति, और जिज्ञासा सहायक होते हैं; और अभ्यासी अपने स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार इनमें से किसी को

अपना कर लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। किन्तु इन तीनों प्रेरणाओं में किसी न किसी रूप में स्वार्थपरायणता की कुछ न कुछ मात्रा मौजूद रहती है, अतः अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में बाधा प्रस्तुत हो जाती है। किन्तु लक्ष्य के विषय में सुस्पष्ट ज्ञान पैदा हो जाने पर उपर्युक्त प्रेरणाओं का स्वरूप बदल जाता है, और इस स्तर पर पहुँच कर यह प्रेरणाएं भी यात्रा की आखिरी मंज़िल तक पहुँचाने में सहायक होती हैं। लक्ष्य के सुस्पष्टता ज्ञान का उदय होने पर अर्थार्थी की एक ही याचना शेष रह जाती है कि वह अपने उस प्रियतम चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लें, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता; आर्त्त को बस एक ही क्लेश का अनुभव शेष रह जाता है कि वह अपने उस प्रियतम चरम लक्ष्य से बिछुड़ा हुआ है; और जिज्ञासु की ज्ञान-पिपासा का स्थान एक अलौकिक आश्चर्य की भावना तथा उस प्रियतम चरम लक्ष्य में सना जाने की तड़प ले लेती है। सच बात तो यह है कि अहंता की मात्रा में जितनी ही कमी होती जाती है, प्रियतम चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग पर प्रगति उतनी ही तेज़ होती जाती है। इस दृष्टि से चौथे प्रकार के अभ्यासी के विषय में भी एक बात उल्लेखनीय है। यों तो लक्ष्य का वास्तविक ज्ञान होते ही याचना, आर्ति और जिज्ञासा के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता, किन्तु यदि उस प्रियतम से याचना करने में या उसे आर्त भाव से पुकारने में या अतृप्त भाव से उसे निहारते रहने में किसी प्रकार की झिझक शेष रह गई हो तो उस चरम लक्ष्य के सुस्पष्ट ज्ञान की वास्तविक दिल्ली अभी दूर ही समझना चाहिये। यह बात अगले अंक में 'कृपा' के विषय में विचार करते समय अधिक स्पष्ट हो सकेगी)। साधना केचरम विन्दु का यही तो विरोधाभास है कि वहाँ स्वार्थ की गुज़र नहीं, किन्तु उसकी प्राप्ति से बढ़ कर कोई स्वार्थ हो नहीं सकता : चरम लक्ष्य अपना ही वास्तविक स्वरूप है, जिसकी प्राप्ति का उपाय उस सब का विस्मरण है जिसे अपना स्वरूप समझा जाता है।

अतः 'अभ्यास' की वास्तविक आधार शिला लक्ष्य की सुस्पष्टता

है, जिसके पैदा होते ही लक्ष्य-प्राप्ति के लिये अदम्य तड़प अनिवार्यतः पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में अभ्यासी के पैर अगला क़दम खुद तलाश कर लेते हैं, और किसी भी प्रकार पथ-भ्रष्ट अथवा लक्ष्य-च्युत होने की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु लक्ष्य का सुस्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व लक्ष्य के सुस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति को ही लक्ष्य बनाकर 'अभ्यास' किया जा सकता है। साधारणतः परमात्म-प्राप्ति का लक्ष्य कहने सुनने के लिये सभी जानते हैं, और उसके लिए लगभग सभी आस्तिक कुछ न कुछ करते भी हैं। किन्तु इस प्रकार के अभ्यास का परिणाम शून्य, बल्कि बहुधा विपरीत होता है। आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से इस प्रकार के आस्तिक की अपेक्षा एक नास्तिक श्रेष्ठ होता है। लक्ष्य की सुस्पष्टता उत्पन्न होने से पूर्व लक्ष्य की सुस्पष्टता उत्पन्न करने के लिए अभ्यास न करने वाले आस्तिक बहुधा अपनी ही किसी कृति (creation) अथवा वासना (craving) को चरम लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप मान बैठते हैं; और ऐसी स्थिति में उनका अभ्यास अधिकाधिक बन्धन उत्पन्न करता जाता है। चरम लक्ष्य की सुस्पष्टता की प्राप्ति में विवेक पूर्ण ग्रहणशीलता (Critical Receptivity) ही सबसे अधिक सहायक होती है। इस अवस्था में अभ्यासी के लिये अन्तिम सत्य अर्थात् लक्ष्य के किसी विशेष कल्पित अथवा श्रुत रूप के प्रति आग्रह अत्यन्त हानिकर है। उसे तो वास्तविकता के प्रति एक सच्चे विद्यार्थी की ही अभिवृत्ति रखना श्रेयस्कर है : सत्य जिस रूप में अपने को व्यक्त करे, उसी रूप में उसे ग्रहण करने के लिये तैयार रहना चाहिये, किन्तु साथ ही किसी भ्रामक प्रक्षेप (Misleading Suggestion) को सत्य का वास्तविक स्वरूप मान लेने की सम्भावना की ओर से सतर्क भी रहना चाहिये। इस प्रकार की जागरूक ग्रहणशीलता को अपना सकना काफी कठिन है। सत्य का कल्पित और श्रुत रूप मोहक होता है; और उसको सत्य के अपने आप व्यक्त हुये रूप से विशिष्ट कर सकना उसी के लिये सम्भव हो पाता है जिसमें सत्य की खोज की प्रेरणा आत्म-महत्व की प्रेरणा पर प्रधानता

प्राप्त कर चुकी हो। किन्तु साधारणतः ऐसा नहीं होता, अतः इस अवस्था में अभ्यासी को योग्य सद्गुरु की सहायता की निरन्तर आवश्यकता रहती है। यदि योग्य सद्गुरु प्राप्त है, तो अभ्यासी को अपने अनुभव पर तब तक विश्वास न करना चाहिये जब तक सद्गुरु उसे प्रमाणित न कर दे। गुरु से इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता के कारण स्थूल-शरीर-धारी गुरु का महत्व सबसे अधिक है।

अब फिर एक जटिल समस्या पैदा हो गई। यदि अन्तिम लक्ष्य को सुस्पष्ट रूप में जानने के लिये भी योग्य गुरु की आवश्यकता है, तो सबसे पहले योग्य सद्गुरु की प्राप्ति को लक्ष्य बना कर अभ्यास करना आवश्यक होगा। और ऐसी स्थिति में योग्य सद्गुरु की पहचान सच्ची साधना में सबसे पहला कदम होगा। 'सद्गुरु' शीर्षक सम्पादकीय लेख में हम पहले ही इस समस्या पर विचार कर चुके हैं, कि सच्चे सद्गुरु की प्राप्ति सचमुच बड़े सौभाग्य की बात है। और उस की प्राप्ति के लिये साधक के वश की बात इतनी ही है कि वह अपने में उसके लिये तड़प पैदा करे। अन्तिम सत्य के सच्चे प्रेमी के पैर अपना मार्ग स्वयं खोजने और पाने लगते हैं, और वह किसी अवास्तविक गुरु से संतुष्ट नहीं रह सकता। किन्तु अंतिम लक्ष्य की सुस्पष्टता और उसके प्रति वास्तविक लगाव के अभाव में मिथ्याचारी गुरुडम का स्थायी शिकार हो जाने की घटनाएं तो हमारे देश में अत्यन्त सामान्य हैं हीं। अतः हमारे समक्ष एक विचित्र चक्राकार समस्या (Circular Problem) पैदा हो गई कि वास्तविक सद्गुरु के अभाव में लक्ष्य का सुस्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकना कठिन है, और लक्ष्य के सुस्पष्ट ज्ञान के अभाव में वास्तविक सद्गुरु की पहचान कठिन है। ऐसी स्थिति में अभ्यासी क्या करे ?

यह समस्या सचमुच अत्यन्त जटिल है, और साधना के एक अनिवार्य अंग 'भगवत्कृपा' की ओर इंगित करती है, जिस पर हम अगले अंक में विस्तृत रूप से विचार करेंगे। जहाँ तक प्रस्तुत चक्रक

समस्या के सुलझाव का अभ्यासी से सम्बन्ध है, व्यावहारिक बात यही देखी गई है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार साधक आरम्भ करता है, और जैसे २ उस का स्वनिर्मित व्यक्तित्व क्षीण होता जाता है, वह उस चरम लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ता जाता है। वास्तव में सच्चा सद्गुरु और चरम-लक्ष्य एक ही वस्तु है, और किसी एक के प्रति लगाव दूसरे की प्राप्ति का साधन है। सारी कठिनाई का मूल बस यह है कि साधारणतः लगाव इनमें से किसी के प्रति न होकर स्वयं अपने प्रति होता है, और यही कारण है कि अपनी कोई न कोई वासना जाने क्या क्या रूप धारण कर के भुलावा पैदा करती रहती है। इसी लिये अपनी ही इच्छाओं को चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सब से बड़ा बाधक माना गया है। श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना में यही बात स्वीकार की गई है। अब यहभी कहा जा सकता है कि चरम लक्ष्य भी अपने ही अन्तिम स्वरूप में स्थित हो जाना है, अतः यह चरम लक्ष्य के प्राप्ति की इच्छा भी अन्य वासनाओं की ही भाँति पथ-भ्रष्ट करने वाली हो सकती है। भारतीय दर्शन के साधना पक्ष के इतिहास में भावात्मक आध्यात्मिकता की विकृतियाँ इस का उदाहरण है, जैसे कि उपनिषद के 'आत्मानं विद्धि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि सिद्धाँतों की विकृति, जिसके परिहार के लिये महात्मा बुद्ध को अपने मौन द्वारा 'नैरात्म्यवाद' और 'क्षणिकवाद' जैसे सिद्धाँतों को बल प्रदान करना पड़ा। किन्तु दूसरी ओर, कोई भावात्मक लक्ष्य सामने न रहने पर उद्देश्यहीन संन्यासवाद से और भी अधिक भयावह विकृतियाँ पैदा हो सकती हैं, जिसका उदाहरण स्वयं बौद्ध-सिद्धान्तों की विकृतियाँ हैं। वास्तव में अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति की इच्छा अन्य साधारण इच्छाओं की निवृत्ति का साधन मात्र है; यदि वह स्वयं किसी विशेष मानसिक कृति के लिये आग्रह का रूप ग्रहण कर बैठी तो उसका भी स्थान अन्य वासनाओं से किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं रह जाता। अंतिम लक्ष्य का जो भी प्रत्यय प्रारम्भ में लिया जाता है, वह केवल मन को सभी ओर से खींच कर अटकाने का साधन ही है, उत्तरोत्तर अंतिम लक्ष्य का प्रारम्भ में लिया गया कोई

भी विशेष प्रत्यय स्वयं ही विश्रंखल होने लगता है, दूसरे शब्दों में अन्तिमता अपने सीमाहीन रूप का परिचय प्रदान करने लगती है। यदि ऐसी दशा में अन्तिम लक्ष्य के किसी विशेष रूप के लिये आग्रह बना रह गया तो "अपने चरम लक्ष्य" में 'चरम लक्ष्य' की अपेक्षा 'अपने' पर बल अधिक हो जायेगा, जो बन्धन-निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देगा। प्रारम्भ में अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा अन्य सभी इच्छाओं को खा जाती है, फिर वह स्वयं अपने को खाती चली जाती है, यद्यपि वह किसी न किसी रूप में बनी ही रहती है। ऐसी दशा में अन्य सभी इच्छाएँ भी आवश्यकतानुसार आने जाने लगती हैं, यद्यपि उनसे अपना कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। हाँ, यदि यही बात कि 'उन से अपना सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता' अहं-भावना की पोषक होने लगे तो इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि 'हर इच्छा जिस समय आती है, अपनी ही प्रतीत होती है।' वास्तव में दोनों ही बातें एक ही स्थिति का वर्णन हैं। ऐसी स्थिति में साधक सचमुच उसी चरम लक्ष्य के हाथ की कठपुतली बन जाता है, बिल्कुल नहलाने वाले के हाथ में मुर्दे के समान, या इस स्थिति का वर्णन यों भी हो सकता है कि अन्तिम लक्ष्य स्वयं साधक के हाथ का खिलौना बन जाता है। दोनों ही बातें एक ही स्थिति का वर्णन हैं। इस हालत तक पहुँचने पर तो सचमुच कोई समस्या नहीं रहती, कुछ समझने समझाने की बात ही समाप्त हो जाती है। किन्तु प्रस्तुत लेख में तो हम इस हालत तक पहुँचने के साधन की ही बात कर रहे हैं।

साधन के रूप में 'अभ्यास' का मर्म बस इतना ही है कि 'अपने चरम-लक्ष्य' की प्राप्ति की इच्छा को बल प्रदान करें। और इस प्रक्रिया में हर क़दम पर 'अपने' की अपेक्षा 'चरम लक्ष्य' पर निगाह रक्खें। अपनी ओर से इतना ही हो सकता है, यद्यपि चरम-लक्ष्य की प्राप्ति उसके द्वारा प्रदान किये जाने की वस्तु है, न कि स्वयं प्राप्त किये जाने की। किन्तु कहीं यह बात अकर्मण्यता अथवा निराशावाद के

सिद्धाँत में विकृत न हो जाये, अतः यह बात भी उतने ही बल पूर्वक कही जानी चाहिए कि बिना भक्त की इच्छा और प्रयास के भगवान भी नहीं हिलताय यद्यपि लक्ष्य-प्राप्तिअभ्यासी के शक्ति-प्रदर्शन का विषय नहीं, किन्तु जो अपने करने की बात है वह अवश्य होनी चाहिए। 'अभ्यास' के इस मर्म को गीता की चतुःसूत्री सर्वश्रेष्ठ प्रकार से व्यक्त करती है:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

[कर्म में ही तेरा अधिकार है, कर्म-फल में कदापि नहीं।
(अत.) फल के हेतु कर्म करने वाला मत हो, (और) अकर्मण्यता में भी तुझे आसक्ति न हो।]

'अभ्यास' और 'कृपा' परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि उस चरम लक्ष्य की अनन्तता और असीमता पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जा सकता, किन्तु 'कृपा' को नितान्त अनर्गल और अन्धी भी नहीं कहा जा सकता। उसे 'अहेतुक' कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि 'अभ्यास के साथ उसका कोई निश्चित अनुपात (Proportion) नहीं है। माता और बालक के सम्बन्ध की उपमा द्वारा बहुधा 'अभ्यास' और 'कृपा' का सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है। बालक का रुदन, पुकार, बेचैनी आदि 'अभ्यास' के रूप में कहा जा सकता है, और माता का उसे उठा लेने का उस की ओर से जो कुछ भी कारण है, 'कृपा' कहा जा सकता है। माता को बालक की पुकार निःसंदेह विवश कर देती है, यद्यपि माता की इच्छा अपने स्थान पर स्वच्छन्द भी है। 'कृपा' के स्वरूप और साधना में उसके महत्व पर विस्तृत रूप से अगले अङ्क में विचार किया जायेगा।

—सम्पादक

अध्यात्म*

(समर्थगुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

मनुष्य तीन शरीरों का बना हुआ है, और तीनों के प्रभाव उस में पाये जाते हैं। जैसा पहले बताया जा चुका है, यह तीन शरीर निम्नाँकित हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण।

त्रिगुणात्मक होने से वह तीन गुण—सत्, रज, और तम् से बने हैं। यों तो तीनों में तीन गुण हर समय ही शामिल रहते हैं, किन्तु गुणों की विशिष्टता और स्वभाव तथा प्रभाव की विभिन्नता गुणों की अधिकता के कारण होती है। और इन्हीं के कारण उनके नाम भी अलग अलग हो जाते हैं।

तम स्थूल है, रज सूक्ष्म है, और सत् कारण है। सत का गुण ऊँचा है, रज का दरम्यानी है और तम का गुण नीचा है। स्थूल देह पदार्थ के घने और ठोस (Gross) होने के कारण तमोगुणी है; कारण देह पदार्थ के सरल (Fine) होने की वजह से सतोगुणी है, और सूक्ष्म देह में सघनता और सरलता दोनों ही सम्मिलित हैं अतः वह विरल अथवा रजोगुणी है। इसी कारण मनुष्य तीन प्रकार के स्वभाव वाले बनते हैं जिनको क्रमशः (१) मूढ़, (२) चंचल, और (३) अज्ञानी, कहते हैं।

(१) जिस्म-परस्त, तन-पूजक, ग़ाफ़िल, बेपरवाह, आलसी आदि मूढ़ हैं।

(२) जिस्म-परस्ती के साथ दिल-परस्त, परिश्रमी, क्रोधी, प्रतिहिंसक, समझदार और सोच समझ वाले स्वार्थभावापन्न व्यक्ति चंचल हैं।

(३) जिस्म-परस्ती और दिल-परस्ती के गुणों के साथ रूह-परस्त, न्यायी, बेमतलब हिंसा से दूर रहने वाले अज्ञानी हैं।

*पिछले अंक में प्रकाशित 'कर्म' शीर्षक लेख से आगे का लेख।

(१) जिस्म-परस्त, जिस्म रखता हुआ, जिस्म को नहीं जानता; (२) दिल-परस्त, दिल रखता हुआ, दिल की समझ से ख़ाली है; (३) रूह-परस्त जिस में, जिस्म-परस्ती और दिल-परस्ती है, वह उन ज़रूरतों की समझ बूझ तो रखता है, लेकिन रूह रखते हुये और शाँति और आनन्द की कामना करते हुये भी रूह (आत्मा) की असलियत का ज्ञान नहीं रखता। और यद्यपि लिखने पढ़ने, सोचने-विचारने और रूहानी (आध्यात्मिक) बातों को सुनने से वह रूहानियत (अध्यात्म) की ओर कुछ झुकने का इच्छुक होता है, तो भी उसमें बेख़बरी ही रहती है, जो इच्छाओं और कामनाओं से सम्पन्न प्रत्येक काम-कामी व्यक्ति का स्वाभाविक गुण है। इसी का नाम अज्ञानी है।

(१) जो ख़ास जिस्म-परस्त है उसकी नज़र जिस्म पर ही रहती है। वह केवल जागृत अवस्था का व्यवहार करने वाला है। जागृत अवस्था में निगाह जिस्म पर ही रहती है, यद्यपि वह जिस्म के मुराद (Purpose) को न समझे। यह उस की हस्ती है और इसी वजह से वह मूढ़ है। (२) जो साथ साथ जिस्म-परस्त और दिल-परस्त है उसकी नज़र जिस्म के साथ दिल पर भी है। वह जागृत और स्वप्न का व्यवहार करने वाला है। जागृत और स्वप्न अवस्था में क्रमशः जिस्म और दिल पर निगाह रहती है, यद्यपि वह सही अर्थ में दिल की मुराद (Purpose) न समझे। यह उसकी हैसियत है और दिल के आवेगों को न समझने और उन पर क़ाबू न पाने की वजह से, वह चंचल, बेचैन, और अशाँत है। (३) जो साथ-साथ जिस्म-परस्त और दिल-परस्त होता हुआ, रूह-परस्त है, उसकी नज़र जिस्म, दिल और रूह पर है यद्यपि वह रूह (आत्मा) की मुराद से अनभिज्ञ है। वह जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का व्यवहार करता हुआ, उनके कारोबार को तो जानता है लेकिन रूह की असलियत से अनभिज्ञ होने के कारण वह अज्ञानी है और यही उसकी हालत है।

किन्तु जिस्म-परस्त, दिल-परस्त और रूह-परस्त अस्पष्ट शब्द हैं। उनके स्थान पर जिस्मदार, दिलदार और रूहदार शब्द इस्तेमाल

किये जा सकते हैं—सघनता, विरलता और सरलता की दृष्टि से। यह तीनों आवरण सब में और सब पर हैं। विरल हृदय (दिल) दरम्यानी है जो नीचे ऊपर की खबर ले आता है और ले आ सकता है। लेकिन चूंकि हर साधारण मनुष्य के दिली (हृदय सम्बन्धी) अभ्यास का शुग़ल (Meditation) जिस्म और दिल पर ही है, अतः इन्हीं के क्षेत्रों तक सीमित रहता है। इस लिये यद्यपि दिल (हृदय) ऊँचे चढ़ता है; किन्तु उसके जानने समझने और काबू पाने के भेद से अनभिज्ञता है, अतः ऊँचे चढ़कर भी वह वहाँ खो जाता है, और बेखबरी की हालत में वह वापस आ जाता है। इस वजह से न वह सुषुप्ति की खबर रखता है, न आत्मा को जान सकता है। प्रत्येक काम-कामी व्यक्ति की सैर दिन रात के चौबीस घंटों के अंदर तीनों क्षेत्रों में होती रहती है, लेकिन अगर वह नहीं जानता तो तीसरे आवरण यानी रूह (आत्मा) की खबर नहीं रखता।

पहले बीज है फिर पेड़ है। कारण-देह चूंकि बीज है इस लिये पहला है। आत्मा का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा में तो स्थिरता, चैन, राहत और शाँति है। बहुत से लोग आत्मा को निश्चल मानते हुये उसको ज्ञान कहते हैं, यह केवल खयाल को व्यक्त करने की विधि की गलती है।

हरकत (गति) तम् और सत् दोनों में नहीं है। गति केवल बीच की हालत यानी रज में है। तो फिर तमोगुणी देह, स्थूल अवस्था में रहने वाले के विषय में क्यों कहा जाता है कि कर्म उसका है धर्म। कर्म तो गति में है और तुम्हारे तम् अर्थात् मूढ़ में गति नहीं होनी चाहिये।

कर्म और ज्ञान दोनों ही मन में हैं और सूक्ष्म शरीर के धर्म हैं, बल्कि अगर सच पूछो तो 'कर्म', 'ज्ञान' और इनका उद्देश्य, 'सुख' तीनों ही मन के धर्म हैं, क्योंकि वह रजोगुणी हैं।

(क्रमशः)

माता और गुरु

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

दुनिया में माँ का रिश्ता अजीब व गरीब कहा गया है और आध्यात्मिकता में गुरू के रुतबे की तारीफ है। आप सवाल करेंगे कि पिता का रिश्ता मां के रिश्ते से क्यों कमतर समझा गया है। जवाब साफ़ है कि हर व्यक्ति जानता है कि माता के गर्भ में एक निश्चित समय तक बच्चे का विकास होता है। उसका विकास उस समय तक होता रहता है जब तक बच्चा अपना समय पूरा न कर ले। कितने कष्टों और कितनी अभिलाषाओं के बाद माँ को बच्चे का मुंह देखने को मिलता है। पिता का कार्य उसकी इन बातों को तरक्की देना रह जाता है जिनकी बुनियाद माता के गर्भ में पड़ चुकी है। माँ ने कितने कष्ट उठाकर बच्चे को इस योग्य बनाया कि पिता उसको शिक्षा दे सके। माँ क्या थी और बच्चा क्या था? बच्चे की बुनियाद तकलीफ से पड़ी और जब तक वह माता के गर्भ में रहा तकलीफ ही से साबिक़ा पड़ा। इस तकलीफ से जो बच्चे और माँ ने उठाई, परिणाम यह निकला कि जिसका अस्तित्व प्रारम्भ में कुछ न था, एक नई वस्तु बन गया। या यूँ कहो तकलीफ ने उसको कितनी शान्ति प्रदान की। यह चीजें अगर जड़ से मिटा दी जायें तो बच्चे को जिस स्थिति में आप देखते हैं अर्थात् प्रसन्न व सुखी, यह बातें उसमें पैदा नहीं होतीं। बल्कि यूँ कहो कि यदि यह चीज दुनिया से गायब कर दी जाये तो आराम की तरफ कोई ध्यान न दे। अब आप इसको परेशानी कहें अथवा चिन्ता, यह अनिवार्य है और बन्दगी की दलील है कि वह चीजें सामने आयें। जब तक लोहा तपाया नहीं जाता उसके ऐब दूर नहीं होते। आप यह भी सवाल कर सकते हैं कि तपाने और आध्यात्मिकता से क्या सम्बन्ध

है एवं यह चीज़ ऐसी क्यों पैदा हुई ? उत्तर संक्षेप में यह है कि यदि क्रियाओं में कम्पन पैदा न होता तो संसार का प्रारम्भ न होता। यह कम्पन ही मानवीय-अस्तित्व की नींव है और यह चीज़ें बढ़ती ही चली गईं। यहाँ तक कि इसी चीज़ को लोग देखने लगे और वही चीज़ हर समय निगाह के सामने रहने लगी। उसके पीछे वाली शक्ति पर कभी ख्याल न गया। हर व्यक्ति को इसमें से गुज़रना पड़ेगा। जब तक इससे गुज़र न ले असलियत का ज्ञान होना दुष्कर है। इसकी विभिन्न सूरतों के विषय में यदि कोई शिकायत करे तो कितना अनुचित होगा। बल्कि मेरा विचार तो अब यह हो रहा है कि इस चीज़ को हटाने की कोशिश भी तालीम देने वाले को नहीं करना चाहिये। हाँ वह वस्तु जो उसके पीछे है उसको शक्तिशाली अवश्य बनाना चाहिये।

माँ की मोहब्बत दुनिया में प्रसिद्ध है। गुरू की मोहब्बत को लोग कम जानते हैं और पुरुष (ईश्वर) की मुहब्बत को उससे भी कम खानते हैं। यह जज्बा सिर्फ माँ ही में होता है कि बच्चा कितने ही औगुन करे, कितना ही कष्ट उसे पहुँचाये किन्तु उसको हमेशा बच्चे की हिफ़ाजत का ख्याल रहता है। हर समय उसे प्रसन्न और सुखी रखने के ही उपाय उसके दिमाग़ में आते हैं। यही हाल गुरू का भी समझना चाहिये। यह वास्तव में रूहानी माँ है। स्पष्ट है कि शास्त्रों में गुरू का दर्जा माता से ज्यादा रक्खा गया है। वजह यह है कि वास्तव में वह माँ है और ईश्वर पुरुष या पिता है। इस लिये गुरू का ख्याल हमेशा यही रहता है कि उसका रूहानी-बच्चा खूब तरक्की करे और जब यह बात होती है तो पुरुष (ईश्वर) का ख्याल जिससे कि उसकी रूहानी-माँ अथवा गुरू का लगाव होता है अवश्य आ जाता है कि पिता के रूप में उसका पालन करे। दुनिया में माँ से अधिक मुहब्बत करने वाले की मिसाल नहीं मिलती आप यह सवाल करेंगे कि भला माँ की गुरू से क्या तुलना ? माँ ने तो उसको एक समय तक अपने अन्दर पाला किन्तु वास्तव में ठीक

यही कार्य गुरू का है जो माँ करती है। आपका "उसके" ख्याल के अन्दर पालन होता है। आप "उसकी" शक्ति (energy) का पान करते हैं। आपका विकास उसकी ख्याली-बिजली से होता है। जब यह बातें सब पूरी हो जाती हैं और उसको ख्याल के पेट में रखने की ज़रूरत नहीं होती तब इस रूहानी-बच्चे का जन्म होता है। कहाँ, और किस जगह ? इसके जन्म का स्थान दिव्यलोक (आलमे-बाला) है। अब इसमें देर क्यों लग जाती है कि कहीं मुद्दतों बाद दिव्यलोक में जन्म लेने की नौबत आती है ? कारण यह है कि बच्चे के विचार और परेशानियों के अनुभव गुरू के ख्याल के गर्भ में जाने पर मौजूद रहते हैं। जब तक बच्चे के यह विचार शान्त नहीं हो जाते तब तक जन्म नहीं होता। फ़ारसी में बैयत (दीक्षित) करना, या दीक्षा देना इसी तरीक़े को कहा है। अर्थ उसके यह होते हैं कि उसने अपने आपको बैय (समर्पित) कर दिया है। यदि कोई व्यक्ति वास्तव में अपने आपको समर्पित अथवा बैय कर दे तो केवल सात महीने लगते हैं। अब चूंकि यह बातें असम्भव प्रतीत होती हैं और उन पर एकबारगी विश्वास भी नहीं होता, इसी लिये देर लगती है ! कारण यह है कि हम इन सब चीज़ों के साथ, जो हममें मौजूद हैं ख्याल के अन्दर दाखिल नहीं होते जिससे कि उन सब में रोशनी पड़ कर एक भाव बन जाये। आप यह भी सवाल कर सकते हैं कि जब माँ की मोहब्बत की तरह गुरू की मुहब्बत प्रसिद्ध है तो गुरू ही अपने आपको बच्चे या शिष्य के अन्दर क्यों प्रविष्ट नहीं कर देते। यह दोष वास्तव में तुम्हारा है कि तुम उसको ऐसा नहीं करने देते, अर्थात् ऐसा आकर्षण और ऐसा लगाव अपने में पैदा नहीं करते कि वह स्वयं तुममें समा जाये।

अब सवाल यह भी पैदा होता है कि वह एक में है या कई एक में ? जवाब यह है कि ज़ात (सत्ता) एक है किन्तु दूसरे रूप में सबमें समाई हुई है परन्तु हर व्यक्ति अनुभव अलग अलग करता है। यह तो प्रकृति का कार्य है और आवश्यक भी था कि वह सबमें

इस प्रकार स्थिर रहे कि जो उसका उद्देश्य है, वह पूरा हो जाये। दूसरी बात यह है कि वह सत्ता सबमें समाई हुई है फिर भी उनमें से एक उच्च कोटि का महात्मा होता है, दूसरा चोर और उठाईगीरा और तीसरा अत्यन्त साधारण कोटि का होता है—यह क्या बात है? कारण यह है कि जिस व्यक्ति ने उस असली चीज की ओर निगाह की और उससे चिपक गया उसने उसका दृश्य देखा और जो बाहरी उभार या उफान की ओर पड़ा रहा उसने वही दृश्य देखा। इसी के कारण गुरू अपने ख्याल में समाया हुआ अपने शिष्य में है, इसलिए कि उसने सम्बन्ध जोड़ लिया है। किन्तु उसकी वास्तविक शक्ति का अनुभव इस लिये नहीं होता कि आपकी निगाह केवल उफान या उभार की ओर है, दूसरी ओर नहीं गई यद्यपि वह मौजूद अवश्य है। अब सोचने की बात यह है कि ईश्वर ने यह अनुग्रह किया कि स्वयं आकर सबसे पहले हममें स्थिर हो गया, गुरु ने यह कृपा की कि अपने ख्याल को हममें प्रविष्ट कर दिया (साइंस वालों के दृष्टि-कोण से यह दोनों बातें आवश्यक हैं); किन्तु यह तो उसके लिये आवश्यक था, अब आपके लिये क्या आवश्यक है? आप भी उसी प्रकार उसमें प्रविष्ट हो जायें जैसे कि सृष्टि को क़ायम रखने के लिये ईश्वर प्रविष्ट हुआ या आध्यात्मिक-शिक्षा देने के लिये गुरु प्रवेश करता है। इसको गुरु-ऋण कहते हैं। यह कर्ज़ा है, जो आपको अदा करना पड़ेगा। मोक्ष बिना यह ऋण चुकाये हुये नहीं हो सकती। जो लोग धनाढ्य नहीं हैं वह कमसे कम इतना अवश्य कर सकते हैं कि दुःखी मनुष्य को देखकर दिल उमड़ आए कि यदि मेरे पास कुछ होता तो अवश्य दे देता। अब देखिये इस मनुष्य के पास रुपया नहीं था किन्तु वास्तव में उसके पास वह धन था जो कि एक धनाढ्य के पास नहीं हो सकता। धनाढ्य-मनुष्य सोने और चाँदी की टिकियों से दूसरों की सहायता करता है और इसने अपने दिल में दीनता का विचार रखते हुये ज़रूरतमन्द की सहायता की। क्या अच्छी वस्तु उसने उसको दी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अभी

इस ऋण को चुकाने में अपने आपको असमर्थ समझे तो कमसे कम वह नज़राना तो अवश्य ही दे सकता है जो एक ग़रीब ने दूसरे को नज़र किया। यही वस्तु अगर दिल के ख्याल में जमा दी जाये तो उसकी वही दशा हो जायेगी जो माता के गर्भ में पहली बार हुई थी। वही चीज़ विकसित होकर एक ऐसा रूप धारण करेगी जो वास्तव में होना चाहिये।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत्

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

भजन

दीनन-दुख-हरन देव, सन्तन हितकारी ॥
अजामील गीध ब्याध, इनमें कहो कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात, गनिका-सी तारी ॥
ध्रुव के सिर छत्र देत, प्रह्लाद कहं उबारि लेत,
भक्त-हेतु बांध्यो सेतु, लंकपुरी जारी ॥
तँदुल देत रीझि जात, साग-पात सों अघात,
गिनत नाहिं जूंठे फल, खाटे मीठे खारी ॥
गज को जब ग्राह ग्रस्यो, दुस्सासन चीर खस्यो,
सभा बीच कृष्ण-कृष्ण, दौपदी पुकारी ॥
इतने हरि आइ गये, बसननि आरूढ़ भये,
'सूरदास' द्वारे ठाढ़ो, आँधरो भिखारी ॥

---सूरदास

अनन्त यात्रा

(इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिये सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो अध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जारही हैं।

—सम्पादक

(पत्र संख्या ४१)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

मेरा एक पत्र आपको मिला होगा। इधर कुछ दिनों से मुझे तो दिन भर सुस्ती छाई रहती है और हर समय नींद ही लगी रहती है। यह हालत जब मैंने वह पत्र लिखा था तब भी थी परन्तु इन दिनों अधिक बढ़ गई है। इसी बीच में 'मालिक' की याद में रत रहने की बेहद चाह बढ़ गई है। यहाँ तक कि रात को सोने की भी तबियत नहीं चाहती थी इसलिये मेहनत भी जो कुछ इस टूटे फूटे शरीर से हो सकती थी शायद उसके बाहर तक हुई। दिन रात की दिमाग़ी मेहनत के कारण अब दिमाग़ फेल होगया है। सिर भी घूमने लगा, जी भी घबड़ा उठता है। सिर की नसें भी सब तड़क उठी हैं और शरीर भी अधिक कमज़ोर है। बस प्रसन्नता इस ग़रीब को एक ही हुई, जिस प्रसन्नता के आगे सब तकलीफ़ें हेय होगई हैं, वह यह

है कि एक बार जी भर कर 'मालिक' की याद तो कर ली। परन्तु देखता हूँ कि 'उसकी' याद में जी भरने के बजाय और उथला हो गया है।

मेरे 'श्रीबाबू जी' शारीरिक-कष्ट भला कितने दिन का! यह हालत भी अब कम हो गई है। आज एक भी Sitting नहीं ली। 'आपने' एक पत्र में लिखा है कि बेचैनी ही एक ऐसी चीज है जो धुर तक पहुँचा देती है। वैसे आम तौर पर न तो यह मालूम पड़ता है कि बेचैनी है, न चैन है। दशा अब एक सी हो चली है। एक कुछ यह बात हो गई है कि चाहे अपने आप ध्यान करूँ या पूज्य.....पूजा करायें, उसके बाद इतनी शिथिलता आती है कि अपने आप उठने तक में पैर लड़खड़ाते हैं और थोड़ी देर तक दिल के ऊपर बड़ा दबाव मालूम पड़ता है, परन्तु थोड़ी देर में ठीक हो जाता है। अपने अन्दर कुछ एक ऐसी चीज़ हो गई है जो हर समय मन को ईश्वर की ही ओर लगाये रखना चाहती है। यह 'मालिक' की अहेतुकी कृपा है। अब हालत में कुछ ऐसा गम्भीरपन आगया है कि चाहे जितनी हँसी की बात हो परन्तु मुझे कुछ हंसी आती ही नहीं। न जाने यह सब क्या बात हो गई है।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या ४२)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्री बाबू जी'

सादर प्रणाम।

कल एक पत्र डाल चुका था अब आज पूज्य.....द्वारा पत्र में जो आपने उन्हें मेरे लिए लिखा कि फ़क़ीर का क़दम आगे ही बढ़ना चाहिये सुनकर परेशानी सी होने लगी और आगे बढ़ने के लिये शिक्षा मिली इससे तबियत खुश भी हुई। परेशानी इस बात से हुई कि जहाँ इस भिखारी को यह संदेह हुआ कि क़दम आगे बढ़ने से रुक तो नहीं गये बस तबियत बहुत बेचैन हो जाती है।

मेरा पत्र तो·····आपको मिला होगा जिसमें मैंने लिखा था कि न तो पूजा करने को तबीयत चाहती थी और न आपको पत्र ही लिखने को मन होता था। हर समय आलस्य एवं निद्रा ही लगी रहती थी और यह अब भी है। दिमाग़ बिल्कुल खाली सा हो गया है। शारीरिक कष्ट के बारे में जो मैंने लिखा था वह अब बिल्कुल ठीक है।

परम स्नेही 'श्री बाबू जी' मेरी प्रतिज्ञा तो यही है और यही रहेगी कि शरीर में चाहे कष्ट कुछ भी हो परन्तु मेरा प्रयत्न तो यही रहेगा कि इस सहज से मार्ग में, क़दम तो रोज़ आगे ही बढ़ेगा और जब मुझे यह मालूम होगा कि अब उन्नति रुक गई है तो संभव है कि इस बेचैनी को यह दिल बरदाश्त नहीं कर सकेगा। आमतौर पर अब हालत सम ही रहती है। हालत बहुत अच्छी ही चल रही है। हाँ, एक बात आपको लिखना भूल गया कि अब तो फ़क़ीर के क़दम, क़दम ही न रहे और क़दम क्या जबकि फ़क़ीर ही न रहा परन्तु अभी तो 'बाबूजी' कभी कभी एकाध बार धोके से छिपे छिपे यह अपनापन आ जाता है परन्तु तबियत उस पर टिकती नहीं। अब कुछ ऐसा होता है कि हालत मन में कुछ मेरी समझ में आती है, परन्तु न जानें क्यों उसे प्रकट नहीं कर पाता हूँ। हालत में हल्कापन भी बहुत अधिक है।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

(पत्र संख्या ४३)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

आशा है मेरे दो पत्र मिले होंगे। परसों से हालत कुछ बदल गई है। अब तो हर चीज से लिपट जाने को तबियत चाहती है। कभी कभी दीवाल तक से लिपट जाने को जी चाहता है परन्तु न

जाने कैसे सब क़ाबू हो जाता है। मैंने एक बार आपको लिखा था कि मैं बच्चा बनकर आपसे अक्सर खेला करता हूँ परन्तु इधर यह बात बहुत दिनों से छूट गई है क्योंकि अबतो बस एकान्त में शान्त चित्त होकर बैठने की तबियत होती है।

'बाबू जी' याद का तो इधर यह हाल है कि सच तो यह है कि टट्टी व पेशाब को जाता हूँ परन्तु यह ध्यान नहीं रहता कि कबसे बैठा हूँ। खाना खाता हूँ तो यह ज्ञान नहीं रहता कि क्या खाया है और किसने खाया है। बैठे बैठे थोड़ी देर में भूल जाता हूँ कि यह कौन बैठा है इसलिये अब तो अपने को सचेत रखना पड़ता है। वैसे तो यह हालत १०, १५ दिन से है परन्तु सात, आठ दिन से तो इस हालत की अधिकता है। संभव है पिछले पत्र में मैंने अपनी इस हालत को लिखा हो। पूज्य 'श्री बाबू जी' इस ग़रीब की बाँह खींचे रहियेगा, कहीं ठहरने मत दीजियेगा। आपकी दीन, हीन, संतान

(क्रमशः) .....

भजन

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
कितेक सुखन की घरी घनेरी अधिक अधिक नियरैहे॥
जनम जनम की दुखिया के दुख देखत ही घटि जैहै,
पूंजी बाँधि धरी अंतर की, कण कण में बिखरैहैं॥
जियन-मरन अरु जाति-कुजाति, भेद सकल बिलगैहैं,
अपनी अरु परतीत पराई, प्रीति ठौर इक ठइहैं॥
जागत सोवत शरण 'तुम्हारी', उर अंतर सरसैहै,
सुरति कलेवर बांधि चलो री बिष अमृत बनि जैहै॥
स्वप्न सुषुप्ति तुरीय रहनि विच, प्रज्ञा थिर न हिरैहैं,
दुर्लभ गति, मति अनुपम सदगुरु सोऊ सदा दरसैहैं॥
मन बिन मस्त फ़कीरी गति में, रति न तऊ फिरि पैहैं,
'संध्या' संध्या भोर जहां नहिं शून्य, दीप बुझि जैहैं॥

—संध्या

"चाह"

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

कुछ भी हो इस पर तो हमें विचार करना ही होगा कि आखिर चाह शब्द की रचना क्योंकर हुई। कौन इसे लाया, यह कैसे बना—इस साहित्यिक तोड़ मरोड़ से हमारा कोई प्रयोजन नहीं परन्तु इसके अंतर में जो तीखापन है उससे हमारा प्रयोजन अवश्य ही है, क्योंकि यह तीखापन हमारे अंदर की किसी न्यूनता को प्रकट करता है एवं हमारे अंदर के किसी जटिल रहस्य का उन्मूलन करना चाहता है। अब यह न्यूनता क्या है एवं वह रहस्य क्या हो सकता है यह भी एक रहस्य है जो कि रहस्यमय न होते हुये भी उसका आवरण डाले हुए है। इसका कारण केवल यही है कि हमारी दृष्टि कभी इस ओर गई ही नहीं और यदि कभी गई भी तो—'यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है'—बुद्धि को ऐसा भ्रम देकर वापस लौट आई। अर्थात् उस खुले हुये अंतर—पट पर उस अनावश्यक रहस्य के ऊपर भ्रम और निराशा का आवरण देकर हमने उसे और भी ढाँक दिया; कभी यह विचार न किया कि हम जितना ही ढाँकने का प्रयत्न करेंगे उसे उतना ही ग़लत आवरण डाल कर और भी दृढ़ होने का मानों अवसर देंगे। इसलिये उचित यही होगा कि हमें अपने को कोई अवसर ही न देना चाहिये जब तक कि हम चाह को उसकी ही अग्नि में झुलसा कर राख ही न बना दें। हम अपने को अवसर देते हैं, और देते ही चले जाते हैं। किन्तु किधर ? चाह के तीखेपन की ओर जो साँसारिक—वासनाओं एवं लौकिक—आनन्द से सम्बन्धित है एवं जटिलता का कारण है परन्तु उसके दूसरे ही छोर पर, जहाँ सरसता एवं सरलता का ही साम्राज्य व्यापक है उस तक हमारी दृष्टि

पहुँचे इतना अवसर हम नहीं दे पाते। इसका भी एक कारण है और वह भी कैसा हास्यास्पद कि हम आध्यात्मिकता चाहते भी हैं किन्तु ईश्वर—प्राप्ति व प्रेम की हमें चाह नहीं। यह तो "गुड़ खायें गुलगुलों से परहेज़ करें" वाली कहावत ही प्रत्यक्ष चरितार्थ है। आध्यात्मिकता की चाह है और परम जीवन—सर्वस्व ईश्वर—प्राप्ति की चाह नहीं, जबकि ईश्वर—प्राप्ति का मार्ग ही आध्यात्म—पथ है। सारी आध्यात्मिकता या आध्यात्मिक—स्थितियाँ परम प्रियतम ईश्वर—प्राप्ति के मार्ग में बदलती हुई अपनी ही मनःस्थितियाँ हैं।

एक श्रेष्ठ चाहना ही तमाम लघु चाहनाओं को खा जाती है। समर्थ महापुरुष की एक श्रेष्ठ चाहना ही धरणीं पर अवतारों को उतार लाती है कि 'मुझसे भी कोई ऐसा बनता जिससे मेरी हालत भी लोगों को याद आती'। केवल इतना ही नहीं हम लघु मानव जब इतनी सी चाह को मन में ठान लेते हैं कि:—

"नैना अंतरि आव तू ज्यों हौं नैन झँपेऊं,
ना हौं देखौं और को ना तुव देखन देऊं।"

एवं जब मन की यह सहज—बान पड़ जाती है कि 'मो मन परी है यह बान, श्रीप्रभू को रूप परिहरि ना चहौं कछु आन, तभी मानों हमारे अंतर में महानता का बीज प्रस्फुटित होकर पनपने लगता है। क्योंकि हम और हमीं उसी समय मिटती है जब किसी की बड़ाई व महानता हम अपने मन में लाते हैं एवं बार बार उसका स्मरण करते हैं। इसमें एक भेद भी है और कहावत भी है कि 'ऊंट जब पहाड़ के नीचे जाता है तभी उसे अपनी छोटाई का पता चलता है, भेद क्या है ? बहुत छोटा सा किन्तु उसकी ओर दृष्टि नहीं जाती, वह यही कि हमारी तबियत में भीतर ही भीतर उस महानता एवं आनन्द से तुलना होने लगती है। फिर उस दृष्टि से हम अपने आपको छोटा अथवा सेवक समझने लगे हैं एवं अपने अहम् के ऊपर अनजाने ही मानों हम यह पहली ठेस दे देते हैं। यदि अंतर से

उस तुलनात्मक-दृष्टि को हटा दिया जाये तो उन्नति का विचार भी मन में उठने लगेगा। वह तुलनात्मक-दृष्टि ही हमारे में किसी कमी का विचार उत्पन्न कर देती है तथा यह कमी की अनुभूति ही हमारे अंतर में चाह को जागृत कर देती है जो आगे चल कर तड़प बन सेवक को स्वामी की प्राप्ति के लिये तड़पाया करती है, और तब जैसा कि हमारे 'श्री बाबू जी' का कथन है कि 'तड़प अपना रास्ता खुद टटोल लेती है' यथार्थ हो जाता है। वह तुलनात्मक-दृष्टि हमको बता देती है कि हमको कैसा बनना चाहिये एवं हमारी चाह भी उसी के अनुरूप ही उसमें अनुरक्त एवं श्रेष्ठ बनती चली जाती है। जब बनने का विचार मन में आता है तो वैसे ही उपाय भी सूझने लगते हैं और तभी 'उसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्नशील भी हो जाते हैं। परिणामस्वरूप हम अपने परम-लक्ष्य से कुछ न कुछ सम्बन्धित हो जाते हैं एवं हमारा विचार-केन्द्र भी वहीं केन्द्रित हो जाता है जो कि रहते २ सतत-स्मरण या Constant Remembrance का स्वरूप ले लेती है। विचारों की वह गर्मी ही कभी आँसू बनकर, कभी आह एवं कभी तड़प बनकर प्रियतम 'मालिक' तक हमारा समाचार पहुँचाया करती है कि कोई बन्दा 'तेरी' याद कर रहा है। जब 'मालिक' तक खबर पहुँच गई तो फिर कहना न होगा कि सेवक का जीवन धन्य हो गया। 'मालिक' की अपार कृपा-शक्ति एवं पावन-प्राण-शक्ति (फैज़) के सागर में सेवक का भी बहाव आरम्भ हो गया ही समझना चाहिए। तब क्या होता है कि 'जब बुन्द में सिन्धु समाय गयो, तब बुंदऊ सिन्धु कहावत है' वाली दशा के क्षेत्र में ही रमाव आरम्भ हो जाता है।

एक पर्वत की ऊंचाई पर चढ़ते समय उस पर बिखरी हुई प्रकृति-छटा को निरखने में निमग्न होकर हम ऊपर चढ़ते ही चले जाते हैं। उस समय हमें थकान या अन्य कष्टों का अनुभव नहीं होता है अर्थात् उतने समय के लिये हम शारीरिक-भान से ऊपर उठ जाते हैं। किन्तु उस पर्वत पर बिखरे प्रकृति-दृश्य उस जड़ खंड

की ही कोई अनोखी कलाकृति नहीं कही जासकती वरन् उस प्रकृति सौंदर्य की अधिष्ठाता-शक्ति कोई और ही है जिससे सम्पूर्ण प्रकृति ही प्रकाशित होकर उस जड़ पर्वत-खंड को भी शोभायमान बना देती है। यदि हम अपना मार्ग व दिशा बदलते जायें तो वे प्रकृति के खेल भी तमाम रंगों व दृश्यों में परिवर्तित होते चले जाते हैं। इसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक-उन्नति के मार्ग में श्रेष्ठ एवं पावन चाह हमारे अंतर के तमाम आवरणों को भेदन करती हुई एवं हमारी गति व दृष्टि को अंतरिक्ष बनाती हुई अपनी अधिष्ठाता-शक्ति परमात्मा में लयलीन हो जाती है एवं हमारी गति गीता में कथित स्थित-प्रज्ञ-वत् हो जाती है। किन्तु यहाँ हमारी चाह या आध्यात्मिक-स्थिति का स्थूल स्वरूप तो समाप्त हो जाता है अर्थात् सेवक की सेवकाई के मैदान की आवश्यकता तो समाप्त हो जाती है परन्तु सेवक तो फिर भी सेवक है, यह बात तो रहती ही है। यहाँ पर आध्यात्मिक-खेल का मैदान समाप्त होकर अलौकिक एवं दिव्यतम दशाओं का प्रारम्भ होता है अर्थात् तब से फिर प्रियतम की शक्ति व गति का दिव्यारम्भ होता है जिसे देखने के लिये दिव्य-दृष्टि भी 'मालिक' को देनी ही पड़ती है।

यह तो फिर कहना पड़ता है कि 'प्रियतम' व 'मालिक' शब्द से मेरा अभिप्राय केवल एक समर्थ सद्गुरु से ही है जो कि अपने समय में केवल एक ही होता है। भाई जब हमारा बनाया खेल बिगड़ गया तभी आध्यात्मिक शब्द-का मूल्य हमारे लिये समाप्त हो गया समझना चाहिये। कितनी सरल बात है कि अपने बनाने की चाह ही अपना बनाया खेल बिगाड़ देती है। किन्तु इससे भी भला हमारा प्रयोजन क्या? हमारा प्रयोजन तो केवल इतने से ही है कि:—

'जो लोहे को सोने कर दे वह पारस है कच्चा,
जो लोहे को पारस कर दे वह पारस है सच्चा।

ऐसे ही पारस की चाह से हमारा प्रयोजन है। कितना सत्य एवं सहज-तथ्य है कि लोहे को पारस बना देने वाली शक्ति वही है जो

अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा द्वैत-रूपी बादलों का निरीकरण करके हमारे अंतर की सोई मनःशक्ति को जागृत करके उसे बल देती रहती है। कहा भी है कि मानव-मन तकुला है जो बार बार झोल खाता है; लोहार सद्गुरु है जो मन को राह पर डालता है। फलतः जो हमारे अंतर में छाये अवसाद, कालिमा, ठोसता एवं दुःख के बादलों को छिन्न भिन्न करके हमारी चाह या इच्छा को उस अनन्त चेतन-भंडार से सम्बन्धित कर देता है जो कि सदैव अपनी भीनी भीनी पावनता से हृदय को पखार कर निर्मल, सरस व सरल बनाया करती है। वास्तव में हृदय की सरलता ही साधना का साफल्य है। किन्तु हम सरल रहने का अभ्यास करें ऐसा नहीं, क्योंकि हृदय की साधारण पवित्रता के समय ही हम जिस गति व आनन्द का अनुभव करते हैं वह वास्तविक गति व आनन्द नहीं है वरन् जब मन की साधारण अवस्था में भी हम वही आनन्द या स्थिति अनुभव कर पाते है वही वास्तविक स्थिति है। इतना ही नहीं जब हमारा कुल वाह्य व अंतर का स्वरूप ही एक सा होकर फिर वह भी विस्मरण होने लगता है तभी वास्तविक-स्थिति है।

आध्यात्मिकता से तो केवल हमारे अंतर से ही तात्पर्य होता है किन्तु हमारे वाह्य-स्वरूप व व्यवहार में तो हमारे अंतर की ही प्रतिछाँहीं झलकती है। तभी वास्तव में इस कथन की भी पुष्टि हो पाती है कि:—'Face isthe index of mind,' जबकि हमारी मनः स्थिति भीतर, बाहर एक सी बनी रहती है। संत तुकाराम जी का कथन कि 'गुड़ से मीठे है भगवान, भीतर बाहर एक समान' भी हमारे अंतर की इसी स्थिति को लेकर ही है। आंतरिक-स्थिति ही हमारे व्यवहार में शील एवं सौजन्यता का प्रतिरूप बन कर आती है एवं व्यवहार वह दर्पण है जिसमें हमारा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। हमारी आत्मिक-स्थिति ही वास्तव में हमारा व्यक्तित्व वास्तव में नग्न होता है उसके लिये अब तक कोई आवरण नहीं तैयार किया जा सकता है जो कि उसे ढाँक सके। हाँ समर्थ परम

पुरुष का व्यक्तित्व ही उसके लिये आवरण बन जाता है क्योंकि body consciousness जाने पर तो मानव विराट होता है किन्तु Soul-consciousness भी चले जाने पर मानव अथाह हो जाता है, और अथाह वस्तु का भला व्यक्तित्व ही क्या? इस लिये ऐसे ही सच्चे सद्गुरु के चरणों में पहुँच कर उससे Pure love (विशुद्ध प्रेम) करना प्रारम्भ कर दे व 'उनके' बताये अभ्यास की पूर्णता में निमग्न हो जावे क्योंकि तभी वास्तविक चाह की हम पूर्ति कर पाते हैं। जिस प्रकार योग्य-दृष्टि रखने वाला कुशल शिल्पी एक साधारण पत्थर में भी देवाधिदेव का दर्शन कर सकता है क्योंकि वह स्वयं उसका अभ्यस्त है; परन्तु लोगों को प्रत्यक्ष बतलाने के लिये उसे उन अनावश्यक-आवरणों को छेनी से काटकर हटाने को धैर्य एवं समझ की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार समर्थ सद्गुरु को मनुष्य-मूर्ति के आँतरिक ज्ञान एवं सत्य तथा ईश्वर-प्राप्ति को अभ्यास द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिये उसकी चाह या इच्छा-शक्ति को एवं उसके कुल System को अपनी पावन-इच्छा-शक्ति द्वारा श्रेष्ठतम अवस्था में निखारते हुये बड़े धैर्य, कुशलता एवं वात्सल्य से काम लेना पड़ता है। यद्यपि आध्यात्मिक-उन्नति व्यक्तिगत चेष्टा पर भी बहुत कुछ निर्भर है और यह चेष्टा भी पूर्ण तन, मन एवं लगन से ही होनी चाहिये क्योंकि अधूरे चित्त से काम करने में आत्मा के महान नियम की पूर्ति नहीं होती। अधूरे चित्त से हम केवल अधूरे चित्रों की ही राह-रेखा अंकित कर पाते हैं उन्हें पूर्ण कर पाने के लिये हमें पूर्ण एवं कुशल सद्गुरु के हाथों में ही अपने को पूर्णतयः समर्पित कर देना होता है। अर्थात् हम 'उनमें' Pure love (विशुद्ध प्रेम) करना आरम्भ कर दें। Pure love में जैसा कि एक बार हमारे 'श्री बाबू जी' ने बताया था; Unconci ous devotion रहता है जो कि पूर्ण लय-अवस्था की कुन्जी है जो चीज़ जीव और आत्मा के मध्य विस्तृत -भेद को अनजाने ही हमारे समक्ष खोल देने के लिये 'मालिक' को मजबूर कर देती है वही Unconcious devc t on है अथवा यों कह लीजिये कि हमारी हुजूरी और मालिक की मजबूरी

ही Unconscious devotion है एवं वह चीज़ चाहे कुछ भी हो वही लय-अवस्था का प्रारम्भ है। और यह तो मानव-धर्म ही हैं कि जहाँ से आया है वहीं अपना खेमा गाड़े रहे। वह इसी प्रकार कि हम निज विचारों की लड़ी को ईश्वर से ऐसी सम्बन्धित किये रहें कि एक क्षण को भी उसमें पृथकता का आभास न आने दें। कार्य तो कार्यों की आवश्यकतानुसार होते हैं और होते रहेंगे, हमें तो अपनी दृष्टि को अपने परम पूज्य 'श्री बाबू जी' के बताये अनुसार अंतर में ही गड़ा देना चाहिये। फिर जहाँ उसने (दृष्टि ने) अपना ठिकाना बना लिया वहाँ उसे फिर अपने अनुरूप ही अनुपम क्षेत्र मिलने लगता है जिसे कहते हैं दृष्टि में फैलाव आना एवं साथ ही साथ निज सहज-स्वरूप का पसारा भी होने लगता है। क्योंकि जहाँ विचारों का तथा विकारों का बंधन नहीं उस दृष्टि में छोटा बड़ा नहीं, मान-अपमान नहीं; जाति-कुजाति, उच्च-नीच के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। वहाँ फिर क्या है ? केवल पसारा ही पसारा, किन्तु उस पसारे में हमारा 'मैं' सम्मिलित नहीं होता वरन् हमारी चेतना में एक सहज-सुखद हल्कापन एवं सत्य जैसी स्वतः स्पष्टता उत्पन्न हो जाती है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है कि:—

'कोई माया, कोई भय भ्रम न रहा, कोई पर्दा कोई संशय न रहा।
आईना शक्ल तेरी क्या जाने, तू रहा पास तो फिर मैं न रहा॥

वास्तविक बात तो यही है कि जिसने अपने मन की गागर में अपनी पावन प्रेममयी चाह द्वारा सचराचर विश्व के आधार एकमात्र ईश्वरीय-सागर को पैठा लिया है वास्तव में उसे ही अपूर्व ज्ञान-राशि प्राप्त हो गई। जिसके मन की लौकिक-लोनी 'मालिक' के पावन स्मरण द्वारा छूट गई, उसे ही अलौकिक सुख मिल गया। जिसके हृदय-मंदिर में 'उनकी' ही प्रेममयी मधुर-मूर्ति के अतिरिक्त कुछ भी दूसरा शेष नहीं है ऐसी ही श्रेष्ठतम चाह वाला मानव ही वास्तव में धनी है एवं उसका ही जीवन धन्य है। अपने प्रियतम 'मालिक' के समक्ष केवल एक यही चाह ही हमारी वास्तविक चाह है कि:—

"शाख पे शोलएगुल की लपक हो, चर्खा पे अंजुमोमाह।
दुनियाँ पर सूरज की चमक हो, मुझ पे 'तेरी' निगाह॥"

"हमारा स्वास्थ्य"

(काशीराम अग्रवाल)

आज कल अधिकतर व्यक्ति अस्वस्थ ही देखने में आते हैं। कोई तो रोगी हालत से इतना अधिक दुखी है कि आत्मघात कर लेने में सुख समझता है। कोई ईश्वर से प्रार्थना करता है 'हे भगवान मुझे इस दुख से अच्छा तो मौत ही देदे।' जो पूर्णतया स्वस्थ दिखाई देते हैं, वह भी किसी न किसी रोग से ग्रस्त हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि इतने कष्ट भोगने पर भी लोग स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों को जानना नहीं चाहते। प्रकृति के नियमों का पालन न कर उल्लंघन करते हैं। प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना दुख भोगना है।

प्राचीन काल में आज की भाँति तरह तरह का बनावटी जीवन नाना प्रकार की औषधियों की भरमार न थी। खान पहरान सादा, और सरल जीवन, हर बात में सादगी एवं सदाचारी होते थे। उनका हर काम प्रकृति के नियमों से मिला जुला होता था। प्रातः टहलते एवं नदी में स्नान करते थे, समय समय पर व्रत उपवास रखते थे, प्रातः चरणामृत लेते थे। यह सब स्वास्थ्य प्रद होने के कारण एक धर्म का अंग माना गया, ताकि इन नियमों का पालन सहज में लोग करते चले जायें।

आज कल प्रातः चरणामृत की जगह चाय, पुड़ी, कचौड़ी, मिठाइयों का नाश्ता होता है, जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। उपवास महीने में एक दो करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। मगर उपवास तो करना दूर रहा बल्कि आवश्यकता से भी अधिक बे मेल बिगड़ा हुआ भोजन खाते हैं, और जब रोग आ घेरता है तो अपनी गलतियों पर कम ध्यान, दवाओं पर विशेष ध्यान देते हैं। स्वास्थ्य

के नियमों की इतनी जानकारी नहीं, जितनी दवाओं की जानकारी है। जरा भी तकलीफ हुई दवाओं की गोलियाँ खा लीं, इसी प्रकार नित्य प्रति रोग आते हैं—और उनको दवाओं के द्वारा अन्दर ही अन्दर दबाते चले जाते है। इसका नतीजा यह होता है कि हमें घोर तकलीफ असाध्य रोग के रूप में भोगनी पड़ती है। अपना स्वास्थ्य डाक्टरों के भरोसे न छोड़ कर स्वयं ही बनायें, दवाओं के सहारे सच्चा स्वास्थ्य पाने की आशा गलत है। प्रकृति के नियमों का पालन करने से ही सच्चा स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है।

औषधियाँ तो स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिये अनावश्यक ही नहीं, बल्कि अधिकतर औषधियाँ हानिकारक भी हैं। शरीर की रचना अद्भुत रचना है यह परमात्मा की विशेष देन के साथ साथ इस कारखाने को चलाने और बिगड़ जाने पर उसे बनाने के लिये भी कारीगर साथ दिये हैं, जो हमारे शरीर में समय समय पर टूट फूट को बनाते रहते हैं। जैसे घाव हो जाने या हड्डी टूट जाने पर प्रकृति स्वयं ही घाव को भरती और हड्डी को जोड़ देती है। डाक्टर तो केवल घाव पर मलहम, हड्डी पर पलस्तर लगा देता है। मगर देहातों में डाक्टर कम होते हैं, वहाँ घाव अपने आप ठीक हो जाते हैं एवं हड्डी स्वयं जुड़ जाती हैं। हमारे शरीर में हजारों नाड़ियाँ तथा फेफड़े, गुर्दे, लीवर, आमाशय एवं आतें अपना अपना काम भली भाँति करते रहते हैं। हमारा भोजन गलत होने से विकार अन्दर भर जाता है, शरीर उस विकार को स्वयं ही बाहर निकाल देता है, उसे ही हम रोग कहते हैं। रोग होने पर इतना ही करना है कि अन्दर के डाक्टर की आवाज पर ध्यान दें कि वह क्या चाहता है। आपका रोग चला जायेगा। भूख न लगने पर मत खाओ, यही तो सब जानना है, फिर तो अपने आप को ठीक कर लेने में शरीर स्वयं समर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति डाक्टर तो नहीं बन सकता मगर स्वास्थ्य रक्षा के नियमों से भलीभाँति परिचित तो हो ही सकता है। एलोपैथिक दवाइयाँ तो बड़ी ही मंहगी पड़ती हैं। अतः निर्धन रोगियों की दशा प्रायः दयनीय और हृदय-विदारक हो जाती है। आधुनिक चिकित्सा

विधि बड़ी जटिल और गूढ़ बनती जा रही है। प्रकृति जो मुफ्त दवाइयाँ हर समय हर जगह देती है उसे आज का मानव लेना नहीं चाहता, प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा रोग जड़ से जाते हैं, और सब रोगों की एक ही दवा, मट्टी, पानी, धूप, हवा है। मट्टी, पानी, धूप, हवा आदि से कठिन से कठिन रोग भी दूर हो सकता है। यह मेरा स्वयं का अनुभव है, और कुछ लोगों पर आज़माया भी है, भयंकर बुखारों पर, संग्रहणी, बवासीर, कब्ज, पेशाब सम्बन्धी रोगों पर—फोड़े, फुन्सी घावों आदि पर आश्चर्य जनक लाभ हुआ, और कह सकता हूँ कि शरीर के लिये औषधियाँ अनावश्यक हैं।

औषधियों के बारे में डाक्टरों ने अपनी निम्न राय दी है।

अमरीका के डाक्टर क्लार्क का कहना है कि चिकित्सकों ने रोगियों को लाभ पहुँचाने के प्रयत्न में इसके विपरीत बहुत हानि पहुँचाई है, उन्होंने ऐसे हजारों रोगियों के प्राण लिये हैं जो प्रकृति के भरोसे अगर छोड़ दिये जाते तो अवश्य आरोग्य प्राप्त कर लेते। जिन्हें हम ओषधियाँ समझते हैं-वास्तव में वह विष हैं।

डाक्टर होमस् (Holmes) का कहना है कि आज का सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र यदि समुद्र में डुबो दिया जाय तो मनुष्य का परम सौभाग्य होगा।

डाक्टर फ्रैंकलिन ने लिखा है-"ईश्वर अच्छा करता है और फीस डाक्टर ले जाता है।"

महात्मा गाँधी जी ने लिखा है—"मुझे दवाओं पर कम विश्वास है, प्रकृति-चिकित्सा पर अधिक।" एलोपेथी दवाओं का इतना अधिक हिन्दुस्तान में प्रचार होने का मुख्य कारण यह है कि—नई अविष्कृत औषधियाँ स्थूल दृष्टि से देखने में बहुत जल्द लाभ पहुँचाती हैं, लोग इस झूठे लाभ से संतुष्ट होने लगे और दवाओं को हर समय अपने साथ रखने लगे। और सर्वदा के लिये आरोग्य प्रदान करने वाली प्रकृति के नियमों को भूल गए।

॥ स्तवन ॥

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेव भाति हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

—तुलसीदास 'श्रीराम चरित मानस' ।

[ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरों सहित सम्पूर्ण विश्व जिसकी माया के आधीन है;
जिस के सत्व से सब कुछ रस्सी में साँप के भ्रम की तरह सत्य आभासित होता है;
जिसके चरण भव सागर को पार करने की इच्छा वालों के लिए नौका रूप में प्रकाशित हैं—
उस कारण से परे अशेष 'राम' कहलाने वाले ईश्वर हरि की मैं वन्दना करता हूँ ।]

[Whose Maya controls the entire universe including the demons and gods like Bramha etc,

Whose reality makes the whole existence appear as something real like the illuson of a snake in the rope;

whose feet appear as the very boat for those desiring to cross the Ocean of becoming—
To that god Hari; the Eternal transcending the Origin; famed as Rama, I pay Obeissance.]

Spiritual Training Through Yogic Transmission.

(Shri Ram Chandra, Ji President S. R. C. Mission)

By the grace of my Master I shall try to reveal a great secret or a mystery which the people in general do not know. It is a great wonder when a great personality like Lord Krishna, Swami Vivekananda or my Master changes the entire course of a man's life. How is this done ?

Some sceptics may say that it is after all due to the person who wanted to change himself and the Master or Guru was the cause for merely name's sake. If Lord Krishna had such power why did he not change the heart of Duryodhana instead of bringing about the battle of Kurukshetra ? They may also quote many stories wherein somebody taking a worthless person or even a lifeless object as a guide has become a great saint. But this need not hinder us in trying to find out the reality, because God's ways are mysterious. Some are deluded by their own thinking and some are illumined by Divine Grace.

If the question as to from whom Lord Krishna got Light is put to me, my answer would be that

He is Self-luminous. But then, this need not mislead the inquirer that he too is self-luminous and everyone else is also such, and there is an end of all inquiry. Logical speculations are no substitutes for the cravings of heart. The heart is not satisfied even if the logic stops dead in some blind alley.

Pranahuti is effected through the power of will which is always effective. If a trainer in spirituality exerts his will to mould the mind of the trainee it will bring effective and excellent results. Many swamijis, who start the profession of gurudom as soon as they put on the ochre-coloured uniform, complain that although their shishyas(disciples) listen to them with interest yet they remain as crooked as the tail of dog afterwards. The reason is obvious. Either the swamiji does not exert his will or he has got no power. The teachers prescribe many laborious and brain-taxing practices and leave their disciples to their own fate. Neither the teacher knows the results of the methods nor the disciple cares to use his discrimination. The result is internal grossness, dullness of the intellect and loss of freedom on the part of the disciples and corruption, degradation and moral turpitude on the part of the gurus who are very conscious of only their right to teach and quite unmindful of their duties and responsibilities.

The worthy trainer with the power of yogic transmission weakens the lower tendencies of the mind of the trainee and sows the seed of divine light in the innermost core of his heart. In this process the trainer uses his own will-force which has the Divine Infinite Power at its back. In a way he is conscious of That and he just focuses It through the lens of his own will upon the heart of the trainee. The trainee may not feel anything at the beginning. The reason is that he is accustomed to feel only through the senses; and the divine power is beyond senses. After some time, however, he may feel the results of such transmission, which also are in the form of subtle changes of the workings of his vital parts and of the tendencies of his mind.

A crude analogy of this process may be found in mesmerism and hypnotism whose results are contrary to those of Pranahuti. In these baser arts the hypnotiser uses his will-force with the backing of material power. And the will of the hypnotised person is weakened, and he finds himself dull and heavy-hearted after he wakes up from the hypnotic trance. A disease may be cured or a particular tendency of mind may be suppressed to some extent depending upon the power of the hypnotiser and the submission of the hypnotised. But the effect does not last long. The hypnotic power is developed

by some intense mental and physical practices using material things or mental images as objects of concentration. These practices often lead one to mental deformity or insanity and some times even physical deformities will be the result. A successful practice, after a long time, may, however, result at the most in the gain of some material power which is limited and useful only for the gratification of some kinds of desires as long as it lasts.

By now the reader might have come to the obvious conclusion that the Power of Pranahuti is a Divine Power working through the channel of a pure mind. How is the mind purified ? How does it get connected with the Divine Power ? The simple answer is that these happen when the thought is linked up with God permanently. Again, how is one to link up his thought with God permanently ? Many answers have been given to it. But the secret which bubbles up from the bottom of my heart is that it is my Master who does it, who did it and who is doing it. When I saw my Master my heart was filled up with his light. And I started to remember him constantly as my Lord, my Master and my Soul. May all true seekers find him. Amen.

GOD AND GUIDE

(Shri N. Thyagarajan)

The seeker after God was very much upset. He did not know the sure and the only path that led to his presence. His thirst for God increased day by day and he could not contain himself any longer. He sought after the proper man to guide him.

First he met a pandit who gave him big books on philosophy. But the seeker soon got tired of reading the books. Then on the advice of another, he chose idol-worship. But he was not satisfied that he was on the right path and so he left that method also.

A sage whom he approached recommended the path of tapas and chanting of manthras but our seeker soon got tired of this method also as being impractical.

A sadhu visited the city. Huge crowds went and saw him, made their offerings and got blessed in the routine way. None seemed to pause and ponder. Everyone behaved as though the formality of blessing was enough and moved on. Our seeker felt scared in the presence of the sadhu and as he did not say anything for a long time, the sadhu's disciples asked

him to make way for others, and he moved away.

Failing in all these methods the seeker wanted to find the path by some direct method. Steeped in deep thought he came to the end of the city. There were only open fields but no one in sight. Our seeker went to the shade of a tree and sat in meditation. After sometime he saw a peasant coming towards him. So he approached the peasant and asked him the correct path. The peasant was wonderstruck by this question as it was the first time that such a question was put to him by anybody. He said "I do not know. But I remember my grandfather telling me the story of another man who was also searching God like you. He went in this direction but he has not yet returned. Probably he has seen God as he has not returned. Therefore if you also go along this path you might also see God."

With some hope at last of seeing God, he set forth and came out at last to the foot of a huge mountain. The seeker decided that his path was up the mountain, and that he must somehow reach the top of the mountain. But there was a thick forest confronting him everywhere; and search as he might, he was unable to find any way up the mountain. Time passed. He prayed to God and wept bitterly to show the way. After many days of futile

searching, praying and weeping, he beheld a man at a distance coming down the mountain. The man asked him the reason for his weeping. Hearing the seeker's story the stranger said that he knew the way to God, and if the seeker was prepared to follow him with faith and sincerity, the stranger agreed to guide him to the destination. The seeker having agreed to this, the stranger took him along. Henceforth we shall call this stranger the GUIDE.

The guide led the seeker along a footpath hitherto invisible to the seeker. The seeker thanked God for providing him with a guide of such ability. They walked for days and nights. The path was not free from hurdles. The forest was swamped with wild animals and infested with poisonous reptiles. Wild streams crossed their path, their currents being too swift to pass through. But the guide took the seeker unerringly through all these. Without the help of the guide, the seeker could never have crossed over these hurdles.

After a lot of walking they at last came to a clearing and they could see the city from that place only as a dot. So distant were they from the city. The guide showed him the top of the mountain and told him that that was his goal and that he must steadfastly move onwards and reach that. The seeker could not see the top for sometime, so bright and

shining was the light that issued from there. But the guide told him not to be afraid of that bright light as the seeker will have to merge in the light and then he would not see the bright light. The seeker wanted to know the root cause of the bright light. The guide told him, that he could understand it only after reaching that place.

Again they pursued their tortuous journey and at another clearing, when they had walked for days and nights, the seeker wanted to rest. Melodious musical sounds were wafting through gentle breeze and attracted the attention of the seeker. The seeker wanted very much to go to the source wherefrom the singing was coming and enjoy the scene better. But as he started towards that place, the guide took a firm hold of the seeker and told him 'Your goal is only the top of the mountain and not the other side of the mountain wherefrom the singing is coming. People who have come in search of God have been misled by the melodious singing and instead of sticking on to their goal, have strayed on to the other side and have been spending their time there. Once any body goes that way, he cannot come out of it." The seeker suddenly realised his mistake, thanked the guide for his timely warning and followed the guide.

Crossing the rocky place, they came to a higher plain The seeker was attracted by the surroundings. Such a pleasant and nice-looking place was that ! All the sides were fully covered with beautiful scenery. A gentle breeze was blowing there. Lots of multi-coloured flowers were seen everywhere, from which sweet fragrance was issuing. Once again the seeker was attracted by these pleasant things which had a compelling effect and he wanted very much to go and enjoy the scenery and relax. The guide was shrewdly watching him and saw that he was slipping away. So he told him "Dear brother, do not be wasting time in finding out the fragrance. All these pleasant feelings are transient and have no permanent value. If only you cross over to the other side so as to enjoy the fleeting sensations of melody and fragrance you are lost and you can never find the way back." The seeker at once forgot about these sensations and steadfastly followed the guide.

Again a long walk ensued. And after crossing many ups and downs, once again they emerged into an opening and from there they could see a beautiful place. There were beautiful people playing and singing. The guide pointed them out to the seeker and told " That is a valley full of happy persons. They are entitled to this happy state by virtue of the good deeds they have performed while living on earth. But unfortunately they have once again to

return to earth after exhausting their stores of virtue."

They pursued their walk. By stages they neared the top and at last reached the goal. When the seeker stepped into that place, his heart was over-joyed by the pleasure which could only be felt and not explained. Gradually he lost himself in that state. He forgot himself and the guide also who took him there. Time seemed to stand still. It was a stateless state. Even the thought of God which was hitherto in his mind did not find a place there. He lost himself totally. After a long time he came out of the trance and he looked around for the guide to thank him adequately. But there was none. The seeker realised that the guide was none else than God Himself.

❀ ❀ ❀

An inquirer asked the master, "What is the real Bliss ?"

The master replied, "When the craving for Bliss is gone."

Goal, Guide And The Path

(Shri Raghavendra Rao B. SC., B. E., M. I. S. E.)

The display of anti-authoritarian tendencies is the fashion of the day. If some of the cries are genuine outbursts of conviction many of them are the agonies of frustration. Whereas the former class is self-contradictory, the latter is self-deceptive. Let us examine both the views sympathetically if not impartially.

The belief in God or Truth or Something of that sort, or any kind of belief for that matter is a delusion or at the most a cloak to practise hypocrisy. The faith in a guide or a guru or even in a leader, either spiritual or political, is due to the tendency to be sluggish and lazy and avoid responsibility, which results in creating classes of the exploiters and the exploited and in economic , social, political and mental exploitation, even in "spiritual" exploitation, if there can be any such thing. The conception of a particular path or method to attain the ideal is always faulty and conditioned by the tendencies and the thought-patterns of the thinker; and is always due to mental self-abuse or due to the tendency to run away from facing the facts. The way out of all this chaos is to meditate upon one's own self who

is the thinker and not different from the thought, the result of which will be the realisation of one's oneness with the entire existence and consequently a dynamic living from moment to moment and so the gaining of the fullest freedom or liberation. This is what some of the great thinkers of modern times and our own contem poraries are placing before us with full conviction and great authority; and have left us free to accept them and their views.

"We have seen many saints who professed to have seen God, but none of them seemed to be quite content and happy with it. Everyone, whomever we came across, showed great anxiety to convert us to his fold to increase his following and consequently his coffers. The moment our pockets became empty they turned their backs upon us. We have read many scriptures and masterly commentaries on them. But having read almost everything we found ourselves precisely at the same place from where we had started. Some compromising saints had nformed us that all roads led to Rome. But to our misfortune we found that Rome was a myth and he so-called roads were all blind lanes each leading o its own sphere of stinking darkness and suffocation. o find God we changed our religion but we fell a rey to the vicious priest. To change our lot we dopted a promising cree and followed the leaders ut finally we remained as we were initially. Now

we know that everything is sham and everyone else is a dupe. Let us moan and groan forever as this verily seems to be our lot. There is no God nor any Guru." This is the wail of the frustrated ones who are on the verge of cynicism. If they are stronger and more free thinking and less pessimistic they can be converted to the former class and thence they may display their views more brilliantly.

Anti-authoritarianism has no doubt done a lot of good in many a case in secular sciences. But when it comes in the way of God-realisation or perfect liberation from all bondages the very attitude becomes an impediment and creates bondages. Just as even in physical sciences we have to rely upon many an authority (although the authority can be verified any time anywhere), in the same way we have to rely upon the authoritative experiences of great saints and sages (and even these are verifiable) in order to proceed on the right lines. Otherwise we are likely to get lost in the no-man's land. But then the acid-tests of verifications in both cases differ widely. In order to verify the worth of a genuine saint one should first become worthy himself and then he can see his own clear reflection in the crystal clear heart of the worthy saint. There are other acid-tests too, but one should be careful not to burn his own fingers. If liberation is the goal

then a liberator too is necessary, and the idea of a way to liberation is always implied in the struggle. If the goal is one and the same, there can be only one straight and easiest way to it. If the goal is natural one, the way too should be natural.

No doubt, the existence of God has not yet been and cannot be proved scientificaly, but that need not be a reason for not supposing His existence to solve the problem of life. As this is the easiest and the most natural supposition we may proceed right from this. If we go to a guru and find him a neophyte and a dupe, what hinders us from going to another one ? It is perfectly true that all the methods and the ways are not the easiest and the right ones. But then it does not follow that an easiest and a natural way does not exist. What harm is there if we give a trial to a few more ? God helps those who help themselves. Why not pray to God for light and guidance with sincere craving and aspiration ? It is really sinful to become despondent or cynical which ultimately amounts to cowardice.

To say that there should be no guru or leader would amonnt to feel oneself quite wise and all-knowing without actually being so. Of course it is better to be without gurus if they are unfits or misfits than to submit to their Tom-Foolery. But if by God's grace we come across a Lord Krishna,

a Buddha. a Chaitanya Mahaprabhu or a personality like my Master nothing would be more foolish on our part than not to be guided by such. It is true that my Master is not pompous and showy and it is also true that one cannot recognise Him easily because he has not put on the trade marks, yet if one comes to me I am prepared to show Him by His grace. But this is besides the point.

If all methods and ways are projections of thought and quite mediocre there is at least one of meditation which may be help-ful. But then this meditation upon one's self, I am afraid, is likely to increase one's own self-consciousness and pride instead of increasing the negation of selfishness. We need not be carried away by flowery phrases and plausible platitudes. we have to follow the foot-steps of one who has traversed the entire distance in order to reach the destination. Were it not for the ancient beacon lights we would have been lost and stranded forever.

It is not intended here to refute all the views in the manner of classical philosophies nor is it meant to be discourteous to our esteemed thinkers; nevertheless some pointers are given above for the readers in general to think on right lines and thus not to miss their goal and ideal. In these matters

one should be very cautious and aleret because it is said to be the razor's edge. An abhyasi may come across certain states, during his journey, which, if misinterpreted, may delude him or stagnate him; hence the necessity of a worthy Master.

That much of the revolt against authority of dogmas and creeds is due to the love and sympathy for the suffering humanity is fairly obvious. It is not the contempt or hatred of authority but just indifference and the realisation of its uselessness. If some members of the "revolutionary" group find themselves unable to face and explain the experiences of the seers of the past, that is a different matter. But on the whole if the evils of the organised church and oppressive state have resulted in a rebellious Buddhism with ideals of nirvana or Buddha-hood and a socialism or a communism with ideals of withering away of the state or the proletarian dictatorship, the anti-authoritarian trend in modern thought too may be considered as one of the many results of historical processes. But the spirit or the motive force behind every such outburst is really worthy to be appreciated even though we may differ with the methods and the anticipated conclusions.

Neither an absolute idealism nor a defeatist fatalism can be a practical solution for the common

man. One has to proceed with the Reality as he sees It towards as It is. The help of one who is an adept will smoothen the course to a great extent. If fortunately one comes across the very embodiment of Reality the whole problem of the Goal, Guru and the Path is solved instantaneously. May all the true seekers get such a one. Amen.

❀ ❀ ❀

Nature of Reality and Self

"Fetch me from there a fruit of the Nyagrodh (Banyan) tree."
"Here is one, Sir."
"Break it."
"It is broken, Sir."
"What do you see there ?"
"These seeds, almost infinitesimal."
"Break one of them."
"It is broken, Sir."
"What do you see there?"
"Not anything, Sir."
"My son, that subtle essence which you do not perceive there; of that very essence this great Nyagrodh tree exists. Believe it; my son, That which is the subtle essence; in it all that exists has its self. It is the Real It is the Self. And thou, O Svetaketu, art It."

–Dialogue between sage Aruni and his son Svetaketu: Chhandogya Upanishad

Talks on Shri 'Babu Ji's'

Commentary on Ten Commandments of the Sahaj Marga

(By Dr. K. C. Varadachari M. A., Ph. D., Reader in Philosophy, Shri Venkateshwar University Tirupati-S. I.)

Commandment 2

Begin your puja, with a prayer for spiritual eievation with a heart full of love and devotion. The prayer:-

> **O** *Master, Thou art the Real Goal of human life. We are yet but slaves of wishes putting bar to our advancement. Thou art the only God and Power To lead us unto That State.*

(1)

The second commandment has reference to the prayer which we offer. The prayer has three parts, The first refers to our goal, which is the Highest or Ultimate Calmness beyond all our gross experiences. The second part has reference to the obstacles or impediments to this attainment of that Goal or God. Master is the Highest kind of existence and it is Him we have to reach. The wishes which are impediments to our return to or experience of God are those which are other than our legitimate duties. We have each one of us our duties and these

duties are cast on us by our very conditions of common life. In a sense they are our svadharma which should not be given up. As Sri Krishna has stated it is necessary to do one's own duty rather than not do it. It is necessary not to do other person's duties (pardharma) which alone cause fear to each one of us. If we know this then we will not venture to do other people's duties. This in a sense is a wish as distinguished from duty (dharma). These wishes may pertain to all that is not necessary for our attaining the Highest State. The third part of the prayer shows that God or Master alone can lead us to That State carrying us through all impediments and obstacles which we have created between the Highest State and ourselves, thanks to life-long attachment to 'wishes', desires and other extraneous things.

Briefly the master has sketched how we have descended by three steps. Firstly there was that Highest State of Calm (this, of course, is the true bliss-transcendent state). This is the Highest Reality and essence. The creation starts with this essence descending, and due to this descent we have the heat generated during this process. This gathers particles which have the essence, however, as the nucleus, but forming rings round it. These drops or droplets gather together and form circles and circles,

and forming into rivers finally become like an ocean of heat. The samsara sagara or the ocean of samsara thus forms with extreme heat outside, though the inward Calm Essence is present.

The outer rings with heat thus give us the experience of suffering and loss of calm. The search for calmness or peace of mind thus is set up. It is true that many persons think that this heat of the outer is the world of joys or ananda, but as we have said it is but the inversion of the Highest Bliss. It is necessary to reinvert the whole being. This is done by piercing through the outer shells or rings and arriving at the central nucleus of Calm Essence within. This is what the Master does when the prayer is offered. Thus almost immediately after the prayer we have the experience of the inward calm in this Marga because the Master without any ado removes the obstacles that are in the form of many activities around particles that form the rings. This is the first step of the initiation.

The Master says that prayer implies the relationship of Master and servant between Master and the supplicant. The servant fully relies on the power of the Master who is established in the Highest State and is absorbed in It always. The servanthood (dasya) implies that he permits himself to be used as the Master likes, that is for the purpose of not

getting service from him, but for the purpose of raising his person to the Highest Condition. It has been said that once the individual surrenders himself to the Highest, the Highest then trains the servant for freedom and Divine work. At the beginning the individual is called a servant who is in training for his own good, to achieve the calm and the state of utter freedom in God. The yoga is the Master's. Indeed it is well-known that our master always speaks of being of service to his abhyasis rather than of getting service from them.

Prayer is most efficacious method, for it releases the conditions that bring about in the most simple way the realization. Some prefer a long prayer but what-ever may be the prayer if it does not contain the essential conditions of fixing the goal of prayer, of oneself and of what one seeks, the means or selection of the means, and does not realise that one must be prepared to eschew the impediments which could be eschewed by one, leaving the rest to be removed by the Master, it is not a complete prayer or a right one.

There is a reference to Puja or worship. The idea of worship is essential to all religion. The God to be worshipped, of course, should be the Highest. The Highest alone can grant us the peace that passeth understanding and which is the Original or

Ultimate Source. God is omnipervasive or everywhere. Worship involves the realisation that man is in need of worshipping, adoring some one; we all seek to worship those who are better than ourselves. Hero-worship owes its strength to this need for an object of worship. This instinctive need which everyone feels shows that man is not all but needs the Highest. What we seek is the master or leader and ourselves are but his followers or servants. Sectarian names are not very important provided we are able to grant to those names the meaning of Omnipervasiveness. Since our worship is at the heart and concentration is at the heart it follows that the Omnipervasiveness of God includes His being within the heart. That is why the centre of the Calm is to be visualised or imagined at the heart. In a sense Omnipervasiveness will preclude the fixing of the form of God in any manner except as the Transcendent Calm Central Principle at the heart which begins to break through or unwind the knots or circles that have made for the separation and distance between the individual and the Divine.

Though one may start with the traditional worship that each one has inherited, yet once this abhyasa is taken up one gets to the subtler worship of the Divine and surely attains the Highest State in the shortest possible time.

Prayer finally is the expression of one's utter willingness and acceptance of the life of surrender to the Ultimate as the goal and means of attainment.

(2)

The prayer is an oral and mental act of self-offerjng to the Highest Being. Its purpose must be defined. That purpose must state the object of the prayer which is an instrument so to speak seeking the fulfilment of that aim. Men have all kinds of goals, Our ancients usually said that man has four aims: ARTHA (Wealth and power), KAMA (pleasures and enjoyments), DHARMA (life of law and justice) and MOKSHA (liberation from all kinds of bondage and attainment of release from birth and death). President Eisenhover seems to be right in Calling these food,family, friendship and freedom. All beings have needs of these four kinds. Most men are seekers of wealth and pleasure which is of course legitimate when such wealth and pleasure are for the support of one's life in simplicity & truthfulness. Thus necessary needs of the body and its comfort are legitimate and they are to be conioned by the principle of respect for other people's similar needs which is law. However, these are but means to the primary necessity of freedom from the bondage that develops in the use and pursuit of these ends.

They tend to become ends in themselves rather than means to the highest end of man-his freedom from death and birth or rather freedom from birth after death. Both have been sought. There have been men who have again and again sought physical immortality or freedom from death. They have sought it through alchemy (rasa), through mercurial and other preparations. They have sought it through hathayoga and lately through the help of the vijnana (supermind). But the real goal is not these but God Himself, nor merely His Experience, but Himself. The upanishad calls Him the Immortal Person (Purana Purusa, Amrtam). Therefore the Master is the ultimate godhead, who in this samstha is called the Guru. All our Masters are Himself since it is through Him and by Him is all this transmission done. It is His Power that is working out the subtle changes in us, transforming us so as to enable our knowing Him, seeing Him and then entering into Him with our Real Being. JNATUM, DRASTUM CA TATTVENA PRAVESTUM CA as the Gita Acarya said.

God thus is our goal (upeya). The PARAMPURUSARTHA or supreme goal greater than even freedom from birth-death cycle. Sri Rama Chandra Ji has thus laid great stress on this most important goal of life. In this he has followed the Vedic seer who affirmed that God is the greatest wealth (rayi)

a wealth which is undiminishing, undeteriorating and infinite (ACYUTA, ANANTA and ANRTA). Thus Sri Ramanuja also affirmed that the Brahma or God is the goal of human life and in fact of all life.

The means or UPAYA is also He. This is what is expressed in the last part of the prayer, for He alone has the power to lead us. Indeed God is God because he is the Power and the only Power which could take us to that state of his PARAMA PADA, Supreme Abode (dhama) from which there is no return, even as the Gita-acarya says. Other powers can lead us to their abodes but the Supreme Being alone can lead us to His abode. This is very important to remember for the Supreme Being is one only and all other powers are subordinate to Him and cannot lead one to Him unless He Himself wills it or commands it. Therefore God who is the Ultimate alone is the Power that can take us to that state of His. All teachers are commanded to take one to that state by Him. But if the teachers are not competent Or have not the ADESA then it cannot be done by them It shows also that the transmitted force by the Master is the Highest Consciousness of God Himself that is capable of leading one through all the mazes of the created private world of ours. Thus superconsciousness is higher than the vijnana or supermind, even as it is above everything such as

mind and the senses. The yogas which use the human mind fail, and surely those which use the prana and others also fail. It is not quite clear whether the supermind will succeed, as it is but a penultimate mind rather than the Supreme Being Himself. Indeed the intermediating of the mind of any kind is ruled out, for these are but formations of that Power in Its Ksobha or creative manifestation.

The Supreme Being or God and Master alone can lead us to that Goal. In the ancient Veda it is said that Agni who is the divine will alone leads us to that Highest State, because he knows the devious ways and can surmount the crooked ways of descent of man (jatavedas) and turn us to the true path (supatha) that is subtle and direct, to the Centre. Our Master who is one with God is verily the Knower of the paths of descent and ascent and, therefore, can individually lead every individual to that Highest Staie whatever may be the crookednesses that have developed in him. He is the God of the entire Universes (visvani deva). All this is significantly brought out by the simple and direct prayer: Thou art the only God and Power that brings us to that state (of Thine).

The second part of the prayer states that we (I) are (am) yet but slaves of our (my) wishes putting bar to our (my) advancement. The prayer

could be made in the singular or plural nominative as when one prays alone or in SATSANG or congregation. This is very important since it assumes that man has desires and these desires are precisely those that offer obstacles to one's attainment of the Highest State or God. These are PRATIBANDHAKAS or obstacles which are very diificult to remove or abolish. We know that our desires for wealth and pleasure are varied, some of them are legitimate but when in excess they turn out to be illegitimate and even misery-producing not only to others but to oneself ultimately. The search for wealth and pleasure has been condemned and renunciation had also been such as to lead to excess of renunciation, that is, even of the legitimate. The result has been twofold obstacles due to excess of seeking and excess of renouncing. The middle path, however, cannot be arrived at by our mentality that is incapable of SAMATVA (equableness). Secondly, desires are of two kinds those that lead towards the goal and desires that are turned away from the goal. If the goal is constantly before one's vision, then those desires that lead upto it are integrated with it. These desires cease to be our desires but are Divine Desires (sat-samkalpa of God or satya samkalpa). The desires that have become our peculiar difficulties on the path are desires which are personal or private and seeking to satisfy our human and animal nature. These belong to the private

universe which unfortunately has been for all practical purposes cut off from the Divine Universe. When we turn to God these private desires act as brakes to our turning and moving into God and check our progress. This is due to our habits of society and community no less than to our own individual cravings for satisfaction. Indeed the ego itself acts as a brake or check as it is feeding on these desires and manifests itself through them. We have our plant-ego, animal-ego, and mental-ego and even when we develop a supermental-ego it will proceed to develop systems of autonomous functioning of spheres of desires. Thus we have if we observe ourselves, plant desires (torpor and stability called tamas), animal desires (of activity and movement and perpetuation of desires rajas) and mental desires (of having and possessing and growing consciously). Consciousness itself becomes a kind of desire-result. But since this consciousness that we have is but consciousness of limitation and consciousness of need for a fuller experience, the Ultimate is something very different from this type of consciousness. This obviously cannot be the nature of the Ultimate Being which is infinite and omnipervasive and indivisible and Ultimate depending on no other status or state beyond It. Our desires have also been habituated in the sense that we have all been brought up to cultivate desires. Thus very innocuous mottos such as 'Aim High' and so

on, leave the definition of 'high' out and thus men are pursuing the worldly height which brings out the results of such ambition, sorrow, defeat and collapse of ideals of the outer region. It has been clearly shown through history that ideals of infinite extension of power and rule over Nature and Man has met with defeat invariably. Outer power has a tendency to inflict self defeat and dissolution, for it is not the intrinsic goal of man. True religious and spiritual life seeks inward discovery of God rather than objectification of the personality of God or of oneself. Desires are thus the central problem for man.

Ignorance of one's true nature may be said to be the cause of wrong desire. Ignorance of one's present condition also is the second cause of wrong desire. Men do not know which is right desire and which is wrong desire. We are in a world in which perhaps the wrong desire appears to be right and is adjudged to be right and the right desires are said to be wrong. Surely the 'right' of Buddha had the inward-turn whereas the same 'right' of modern man is outward-turned and the tables of interpretation have been cleanly turned. It seems to be a capital truth that there is a peculiar process of VIVARTA or inversing or upturning in the human mind itself which periodically makes the right appear as wrong and wrong appear as right. The meaning, however, in this inversion does not remain the same

as in formal logic. It is precisely the business or task of the Supreme Consciousness to reverse or inverse this inversion and lead to the proper spiritual perception of the Reality. It is a task, which the Divine Consciousness alone can perform since it alone will modify the workings of the ego which is the maintainer of the system of inversions through habits ingrained by desires of a particular outward-going type. Thus the obstacles for ascent of the individual to the awareness and experience of reality are capable of being overcome or crossed over by the Divine Consciousness working through man's heart and carrying him to the higher centres or spheres of reality-experience.

All men are aware more and more in a world that is expanding and becoming one that the 'old' man is no longer enough; the 'old' mentality is a bar to higher and larger work of God. Both in the material and in the spiritual sense man is inadequate and confused. Expansion of his desires only develops ambitions which cause more and more estrangements and conflicts. The upward radical transformation of desires is basic to our spiritual transformation. The fixed ego of ours has to become a plastic and spiritual vehicle of the Divine Nature.

Desires centre round the ego and reinforce it and, therefore, they have to be seen as obstacles to

ultimate realization of God who is the Ultimate. God indeed is transcendent to all our conceptions of Him.

Therfore, the Prayerstarts with the statement of our Goal (Upaya-purusartha); the impediments to that goal are stated next so as to seek God as the helper and leader and power to reach Him. Lastly, He is sought as the means (upaya). Vedanta indeed stated that God is both the means and Goal of man.

In this connection ancient seers of the South have found that the great System founded by Sri Narayana and sponsored by Sri Krishna called the PANCARATRA stated that true prayer is to contain the essential ingredient of integral surrender. This self-surrender to God should contain the basic limbs of (i) ANUKULA SAMKALPA (willing the helpful) (ii) PRATIKULA VARJANA (renunciation or abandoning of that which impedes or obstructs the realization); (iii) GOPTRTVA VARANAM (the choice or choosing of the goal proper to our endeavour); (iv) MAHAVISVASA (faith supreme in the Guru or Master or God that He is competent to save); (v) ATMANIKSEPA (offering of the soul itself or placing it at His disposal); and lastly (vi) utter dependence (KARPANYA) on God for everything. Sri Ramanuja and Venkatanatha called

this nyasa-vidya (the true SANNYASA-SAT-NYASA, true placing of oneself under the Godhead). In the above Prayer given by Sri Ram Chandra Ji we have in fact, the first stating the third limb GOPTRTVA-VARANAM, the second states the PRATIKULA VARJANAM, and the third states the utter dependence on God and placing of oneself under the Master for the change and growth and development and attainment (ATMANIKSEPA).

It is thus seen to be the simplest prayer which has a direct appeal to God for a direct approach.

OM TAT SAT.

(Series to be Continued)

❀ ❀ ❀

[The next article of the series under the heading 'Misunderstandings about yoga' by Shri Ishwar Sahai shall appear in the next issue Ed.]

(Organizational Units of)

Shri Ram Chandra Mission

Place—	Incharge—
Head office	
Shahjahanpur (U. P.)	Shri Ram Chandra Ji President. S. R. C. Mission
Branches	
1. Lakhimpur (Kheri) U.P.	Sri. Ishwar Sahai
2. Tinsukia (Assam)	Shri Ram Das
3. Gulblarga	Shri Raghavendra Rao (Ceutre functioning under Shri Sripat Sarnad)
4. Tirupati(Andhra Pradesh)	Dr. K. C. Varadachari
5. Delhi	Sri. S. K. Rajagopalan
Training Centers	
1. Puranpur, Dist. Pilibhit (U.P.)	Shri Karuna Shanker.
2. Moradabad U. P.	Sri Ram Chandra Saxena
3. Bellary	Sri. Raghavendra Rao
4. Madras	Shri C. M. T. Mudaliar
5. Vijayawada	Shri N. Kumaraswami
6. Mysore	Shri T. Munjanatha Iyer
7. Lucknow	Shri Narain Sahai

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga	*Shri Ramchandra Ji Shahjahanpur (U.P.)*	(रु० नयेपैसे) *2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translation by Shri A. Balasubramaniam)		*1-50*
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-५०
5. Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marga (No. 4 in English translation by Shri. Raghavendra Rao)		*1-50*
६-अनन्त की ओर	श्री रामचन्द्र जी शाहजहांपुर	१-००
७-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
८-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	०-२५
९-'सहज मार्ग'-पत्रिका की फाइल (द्वितीय वर्ष)		अजिल्द ३-०० सजिल्द ३-५०
१०- ,, ,,	(तृतीय वर्ष)	,,

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (*India*)

प्रेमराज प्रेस लखीमपुर